हिन्दुस्तानी एकेडेमी व्याख्यानमाला—१

मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था

१९२७-२८

मध्यकालीन भारत की

सामाजिक और आर्थिक अवस्था

अर्थात्

संयुक्त-प्रदेश की हिन्दुस्तानी एकेडेमी की अवधानता मे प्रयाग में ता० २, ३, और ४ मार्च सन् १९२८ को दिए गए व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद।

व्याख्यानदाता

अल्लामा अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली, सी० बी० ई०, एम० ए०, एल-एल० एम०

१९२९

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, संयुक्तप्रदेश, प्रयाग।

परिचय

आगरा और अवध के संयुक्त-प्रान्त मे हिन्दुस्तानी एकेडेमी की स्थापना इस उद्देश्य से हुई है कि इसके द्वारा हिन्दी और उर्दू भाषाओ के साहित्य की उन्नति हो। उद्देश्य की प्राप्ति के लिये बहुत से उपाय है जिनमे से एक यह है कि हिन्दुस्तानी विद्वानों को उर्दू और हिन्दी भाषाओ मे विद्या-सम्बन्धी विषयों पर व्याख्यान देने का निमन्त्रण दिया जाय और उनके व्याख्यानों को प्रकाशित किया जाय। अत: इस सम्बन्ध मे एकेडेमी ने मिस्टर अब्दुल्लाह यूसुफ़ अली एम० ए०, एल-एल० एम०, सी० बी० ई० को "भारतीय इतिहास के मध्य-काल मे सामाजिक और आर्थिक अवस्था" पर व्याख्यान देने के लिये निमन्त्रित किया। मिस्टर यूसुफ़ अली हिन्दुस्तान के भारी विद्वानों मे से है। आप बहुत काल तक संयुक्त-प्रान्त मे इम्पीरिअल सिविल सर्विस के सदस्य की हैसियत से रह चुके हैं और उस ज़माने मे जब आप सरकारी पदो को भूषित कर रहे थे आपने और विषयों के अतिरिक्त हिन्दुस्तान के सामाजिक जीवन के अनेक अंशों पर अँगरेज़ी मे लेख प्रकाशित किये। सरकारी पद का त्याग कर देने पर भी अपने चित्त की प्रवृत्ति के अनुसार आप विद्या-विषयक कामों मे पूरे तौर पर दत्तचित्त है। आपने हिन्दुस्तान के इतिहास पर खोज की पैनी दृष्टि से विचार किया है और मुग़ल-काल के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध मे नई बातें प्रकट की है। आप की रचनाओं से जो अभिज्ञ है वह जानते है कि आप न केवल खोजी और भाषाविद् है, बल्कि बहुत ऊँचे दर्जे के साहित्यिक भी हैं।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी के लिये यह बड़े गौरव की बात है कि आपने हमारा निमंत्रण स्वीकार किया और आपके कारण हमारे व्याख्यानों का आरंभ बहुत सुन्दर रीति से हुआ। यह व्याख्यान इलाहाबाद युनिवर्सिटी के हाल मे २, ३ और ४ मार्च को दिये गये। उपस्थित सज्जनों मे इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज, युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर, इलाहाबाद के प्रतिष्ठित वकील और रईस शामिल थे। डाक्टर सर तेजबहादुर सप्रू, एम० ए०, एल-एल० डी०, के० सी०, एस० आई० हिन्दुस्तानी एकेडेमी के सभापति इन व्याख्यानों मे सभापति के आसन को सुशोभित कर रहे थे। इन व्याख्यानों के अन्त मे आनरेबिल डाक्टर शाह मुहम्मद सुलेमान जज हाईकोर्ट इलाहाबाद, डाक्टर बेणीप्रसाद डी० एससी० (लंदन), मौलवी मुहम्मद अली नामी, एम० ए०, और मौलवी सैयद ज़ामिन अली, एम० ए० ने मिस्टर यूसुफ़ अली को धन्यवाद दिये। जो सज्जन इन जलसों मे सम्मिलित हुए इन व्याख्यानों से अत्यन्त प्रसन्न हुए और इलाहाबाद की विद्वन्मडलियों ने इन व्याख्यानों का बड़ी धूम से स्वागत किया। इन व्याख्यानों को प्रकाशित करना मानों एक हद तक इन्हे देश और काल के संकुचित बन्दी-गृह से मुक्त करना है। आशा है कि जो निमंत्रण थोड़े से चुने हुए मित्रों के आनन्द का कारण हो चुका है, यह अब बहुत काल तक सर्व-साधारण का मनोरंजन करता रहेगा।

ताराचन्द

मंत्री, हिन्दुस्तानी एकेडेमी।

भूमिका

आर्थिक और सामाजिक विषय उर्दू मे प्राय नया है और उसके लिखने वाले की समता उस यात्री से हो सकती है जो किसी अप्रसिद्ध देश मे पहले पहल प्रवेश करे। उसके लिए न कोई राज-मार्ग है और न गली कूचे है। घने जंगल को काटने के लिये उसके हाथ मे हमेशा कुल्हाड़ी रहनी चाहिए और राह खोलने के लिए उसको अनेक अप्रचलित रीतियो से काम लेना होगा।

जिन लोगों को कभी किसी दूसरी भाषा से एकाध पृष्ठ भी उल्था करने का संयोग हुआ हो, और विशेषत. उस दशा मे जब कि दूसरी भाषा मे पारिभाषिक शब्दो की भरमार हो, वह भली भाँति समझते होंगे कि

गेसुए उर्दू अभी मिन्नत पिज़ीरे शाना है*।

आगे के पृष्ठों की तैयारी के लिए जिन ग्रंथो के पन्ने उलटने पड़ें, उनमे से आवश्यक बातों के उल्थे से परिभाषा-सम्बन्धी जो कठिनाइयाँ सामने आईं, उनकी अटकल आप इन पन्नों के पढ़ने के बाद भली भाँति कर सकेंगे। मुझे इस सम्बन्ध मे केवल यह निवेदन करना है कि कोई कोई शब्द आपको अस्वाभाविक और अपरिचित से लगेंगे, परन्तु थोड़े से ही विचार और ध्यान से यह स्पष्ट हो जायगा कि पुरानी शृंखलाओं से थोड़े बहुत

---

* उर्दू की ज़ुल्फ़ अभी कंघी की कृतज्ञता से मुक्त नही हो सकती। अभी सँवारने की ज़रूरत बाक़ी है।

छुटकारे बिना काम नहीं चल सकता था। हाँ, मैंने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि इन परिभाषाओं और शब्दों से वाक्यावली की सुबोधता मे अन्तर न पड़े और नये शब्द भरसक अच्छे से अच्छे हो।

इसके सिवा उर्दू मे साधारणतया जिस ज़ोर के वाक्य लिखे जाते है वस्तुत: लिखने वाले का उद्देश्य उससे बहुत कम होता है। पढ़ने वाले भी उससे अभ्यस्त हो चुके हैं, बल्कि स्वयं लिखने बैठें तो वह भी मामूली सी बात कहने के लिये इसी तरह ज़ोरदार वाक्य काम मे लायेंगे। परन्तु मैने इन पत्रों में "अत्यन्त", "बेहद" और इसी तरह के दूसरे शब्द और वाक्य उसी जगह कहे हैं जहाँ उनकी वास्तविक आवश्यकता थी। संभव है आपको इस कारण भी कोई कोई वाक्य कुछ अपरिचित से लगें।

पाद-टिप्पणियों में लिखे हुए प्रमाणों के संकेतों की व्याख्या

अलबेरूनी—अलबेरूनी लिखित भारत के इतिहास का ई० सी० जाख़ाउ (E C Sachau) कृत उल्था, दो जिल्दों मे। (London, 1910)

आल्हाखंड—विलियम वाटर फ़ील्ड William (Waterfield) कृत अँग्रेजी उल्था। (Oxford 1923)

बाघ—बाघ की गुफाएँ (India Society, London, 1927)

बतूता—इब्नबतूता की यात्रा। सी० डी० फ्रेमेरी (C Defremery और डाक्टर बी० आर० संग्विनेट्टि (B R Sanguinetti) कृत फरासीसी मे उल्था। (4 vols Paris 1874—9)

एलियट—एलियट और डौसन का लिखा भारत का इतिहास। [Sir H M Elliot and J Dowson History of India as told by its own historians, 8 Vols London, 1867—1877]

भारतीय-लिपि-माला—Epigraphia Indica, vol XV (1919-20) Calcutta, 1917

मुसलिम-भारत-लिपिमाला—Epigraphia Indo-Moslemica, 1913-14 Calcutta 1917

एटिंगहैाजेन—एम्० एल्० एटिंगहैाजेन लिखित "हर्षवर्धन", फ़रासीसी भाषा मे। [M L Ettinghausen, Harshavardhna Paris, 1906]

फ़िरिश्ता—फिरिश्तालिखित भारत के इतिहास का अँग्रेज़ी उल्था।

[By J Briggs, 4 vols London, 1829]

हर्षचरित—बाणभट्ट-कृत हर्षचरित का अंग्रेजी अनुवाद।

[E B Cowell and F W Thomas London, 1897]

अजंता—अँग्रेज़ी मे लेडी हेरिंघम का लिखा अजन्ता के खोहों का वर्णन। [Lady Herringham's Ajanta Frescoes, India Society, London, 1915]

कादम्बरी—बाणभट्ट की कादम्बरी का अँग्रेजी अनुवाद।
[Kadambari of Bana, translated by C. M Ridding. London, 1896.]

कैथ—संस्कृत-ड्रामा, ए० बी० कैथ रचित। (A. B. Keith's The Sanskrit Drama. Oxford, 1924)

कथासरित्सागर—सोमदेवरचित। अँग्रेज़ी उल्था। [Translated by C H Tawney and edited by H. M Penzer, 10 vols 1924.]

लल्ल—लल्लावाक्यानि। अँग्रेज़ी उल्था। [The Word of Lalla the Prophetess, translated by Sir Richard C. Temple Cambridge, 1921.]

नागानन्द—श्रीहर्ष-रचित। अँग्रेजी उल्था [Trans. by Palmer Boyd. London, 1872]

स्मिथ का इतिहास—Oxford History of India, by Vincent A Smith Oxford 1919

मारको पोलो—मारको पोलो की यात्रा। [Book of Sir Marco Polo translated by H Yule, 2 Vols. London, 1871.]

प्रियदर्शिका—हर्षरचित नाटिका का अँग्रेज़ी उल्था। Translated by G K Nariman, A. V W Jackson and C. J. Ogden. New York Columbia University Press, 1923.]

क़िरानुस्सादैन—अमीर ख़ुसरो का प्रसिद्ध फ़ारसी काव्य। उर्दू प्रस्तावना सहित। सैयद हसन बरनी द्वारा सम्पादित। अलीगढ़, १९१८।

रत्नावली—श्रीहर्ष-कृत नाटिका। श्री शारदा-रंजन राय कृत अँग्रेज़ी अनुवाद। कलकत्ता। १९१९।

कर्पूरमंजरी—राजशेखर कृत नाटिका। अँग्रेज़ी उल्था सहित। [Text edited by Sten Konow. English translation by C. H Lanman Harvard University Press, Cambr Mass. 1901]

टामस—दिल्ली के पठान बादशाहो के राज्य का इतिहास, [E. Thomas, Chronicles of the Pathan Kings of Delhi London, 1871.]

तीन मुसाफ़िर—यूसुफ़ अली कृत। [Three Travellers to India, by A Yusuf Ali, Lahore. R. S Gulab Singh and Sons, 1926.]

टाड—राजस्थान, [Annuals and Antiquities of Rajasthan, ed. W Crooke, 3 vols., Oxford, 1920]

वैद्य—अँग्रेज़ी मे श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य रचित "मध्यकालीन हिन्दू-भारत।" Mediæval Hindu India, 3 vols., Poona, 1926

युवान्च्वांग—युवानच्वांग की भारत-यात्रा । [Yuan Chwang's Travels in India, by Thomas Watters, 2 vols London, 1904.]

विषय-सूची

पहला व्याख्यान—भूमिका

दूसरा व्याख्यान—ईसा की सातवीं शताब्दी

तीसरा व्याख्यान—ईसा की दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी।

चौथा व्याख्यान—(ईसा की चौदहवीं शताब्दी)

पहला व्याख्यान

भूमिका

हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने अपनी व्याख्यान-माला का आरंभ भारत के मध्यकालीन इतिहास से किया है और इस उद्देश्य के लिए मुझको निमंत्रित करके जो सन्मान प्रदान किया है, उसे मैं पूर्ण रीति से अनुभव करता हूँ।

एकेडेमी और उर्दू

इस एकेडेमी का आरंभ स्वतः काल की गति का दर्पण है। जैसा कि आपको मालूम है मेरा नाम बरसों से इन प्रान्तों में उर्दू भाषा और साहित्य की खोज और व्याख्या से सम्बद्ध रहा है। जब मैं हैदराबाद में था तो मुझे वहाँ के उर्दू-सम्बन्धी आन्दोलन और उसमानिया विद्यापीठ के सम्बन्ध में आरंभिक उद्योगों में भाग लेने का गौरव भी प्राप्त हुआ। उस समय वहाँ उल्था का एक विभाग था जो अब भी विद्यमान है। उसका उद्देश्य यह है कि अपनी भाषा को ऐसी मौलिक रचनाओं और प्रामाणिक ग्रंथों के उल्थों से समृद्ध किया जाय जो विद्यापीठ में उर्दू भाषा द्वारा अध्ययन और अध्यापन के लिए उपयुक्त हो। मैंने उनके लिए एक छोटी सी पुस्तिका लिखी थी जिसका उद्देश्य उर्दू में लिखने के और छपने के ढंग को सुव्यवस्थित करना था।

उर्दू-टाइप

मैने उर्दू मे टाइप के प्रचार के लिए भी प्रयत्न किया था और अब भी उसका समर्थक हूँ। उर्दू के अधिकांश विशेषज्ञों की तरह मै भी वर्त्तमान उर्दू-टाइप और टाइप मे छपी उर्दू किताबों से जो आये दिन सरकारी और दूसरे यंत्रालयों से निकलती रहती है, सन्तुष्ट नही हूँ। उर्दू अक्षरों के सभी विविध रूपों को जो हाथ की लिखाई मे देखने मे आती है, टैप मे नक़ल करना आज तक असफल ही सिद्ध हुआ है। लिखावट का सौन्दर्य्य कई बातो पर निर्भर है। जैसे, अक्षरों की गोलाई और अर्द्धवृत्तो के रूप और बड़ाई छुटाई मे अवसरानुकूल नवीन आकार प्रकार उत्पन्न करना, और एक विशेष अक्षर का रूप, उसके किसी शब्द के आदि, मध्य या अन्त मे आने पर अवस्था के अनुसार बदलना। छपाई का सौन्दर्य्य यह है कि अक्षरों के रूप और बड़ाई छुटाई में समानता हो, पंक्तियाँ रेखागणित की शुद्धता के साथ बराबर बराबर हों और पहली ही निगाह मे पढ़ लेना एक सहज काम और स्वादसौंदर्य्य बन जाय। यदि एक ही अक्षर को दो दो तीन तीन रूप दे दिये जायँ तो टाइप के अक्षरो की संख्या किसी के बस का रोग न रहेगी और इससे अक्षरो को जोड़नेवाले का काम आवश्यक रीति से कठिन और महँगा हो जायगा। और आप जानते है कि वर्त्तमान काल की व्यापारी छपाई मे लागत ऐसा अंश नहीं है कि उस पर विचार करने की आवश्यकता न हो। टाइप के सम्बन्ध मे लोगो के विचार पहले से ही विपक्ष हो चुके है। इसलिए इसमे सफलता उसी दशा मे हो सकती है कि टाइप की छपाई लीथो से अधिक अच्छी और अधिक सस्ती हो। यह कल्पना ठीक नहीं है कि टाइप की छपाई सुन्दर और दर्शनीय नही हो सकती। उसकी बुराई और

भलाई की जॉच लीथो की छपाई और हाथ की लिखाई से सर्वथा अलग और केवल इसी से विशेषता रखनेवाली होगी। हमारा पहला काम तो एक सस्ते और भरसक अच्छे टाइप का प्रचार है, फिर ज्यो ज्यो समय बीतता जायगा, सुन्दर और दर्शनीय टाइप भी निकल आयेंगे और आदर्श नित्य ऊँचा उठता जायगा। टाइप के अधिकाधिक सुन्दर होने का रहस्य छपाई की सफाई और शुद्धता मे निहित है। वर्त्तमान काल मे जिस भाषा का सारा अवलम्ब लीथो पर हो और छपाई के सम्बन्ध के टटके टटके आविष्कारो से लाभान्वित न हो सकती हो, यथेष्ट उन्नति तो दूर की बात है, वह अपनी आवश्यकताओ से भी निपट नही सकती।

सम्मिलित भाषा या साझे की भाषा

आपने अपनी एकेडेमी को "हिन्दुस्तानी एकेडेमी" नाम देकर बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया है। इससे देश की भाषा को इन प्रान्तो और देश के अन्य भागो मे भरसक एक रंग की बनाने की इस इच्छा को बहुत कुछ पुष्टि मिल गई जो हर जिम्मेदार हिन्दुस्तानी अपने हृदय मे अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त मेरा यह भी विचार है कि आपने वर्त्तमान अवस्थाओ से आँखें नही मूँद ली बल्कि आप हमारी सम्मिलित हिन्दुस्तानी भाषा के दोनो रूपो की, अर्थात् उर्दू और हिन्दी दोनो लिपियो की उन्नति मे यत्नवान् है। मै इस मंगलमय आन्दोलन का हृदय के अन्तस्तल से समर्थन करता हूँ जिससे हमारी भाषा के भिन्न रूपो मे सुसंगति उत्पन्न होकर एक सम्मिलित आदर्श स्थापित हो जाने की आशा हो सकती है। मेरा विचार है कि अगर हमे इस उद्देश्य मे यहाँ सफलता मिल गई तो इसका प्रभाव संयुक्त-प्रान्तो की सीमा से बाहर भी पड़ेगा। एक प्रकार की मिश्रित हिन्दुस्तानी अब भी देश के बड़े विस्तार मे

हिन्दुस्तानियों की सम्मिलित भाषा है। अगर हम इसे हिन्दुस्तान भर मे साहित्यिक और कारबारी विचारों के प्रकट करने का साधन बना सके तो इससे भिन्न धर्म्म और सम्प्रदाय के लोगो के विचार, बातचीत और रीति-नीति मे बहुत कुछ संगति और आपसदारी पैदा हो जायगी और इस तरह उस जातीय जीवन के विकास की बहुत कुछ पुष्टि होगी, जिसकी इच्छा मातृभूमि के हर सुपुत्र के हृदय मे तरंगित हो रही है।

एकेडेमी का प्रधान स्थान और सरकार से सम्बन्ध

एकेडेमी का प्रधान स्थान संयुक्त-प्रान्तों की राजधानी मे नियुक्त करने से एक केन्द्रीय हैसियत मिल गई है जो कई दृष्टियों से उपयोगी है। यद्यपि उर्दू-साहित्य के केन्द्र लखनऊ, दिल्ली और हैदराबाद (दक्षिण) समझे जाते है, तथापि कई कारणों से प्रयाग का शान्त वायुमंडल श्रेयस्कर है। दिल्ली अब भारत की राजनीतिक राजधानी है, इसलिए राजनीतिक आन्दोलनो के हड़बोंग का उत्साहस्थल बन रही है। लखनऊ निस्सन्देह एक चित्ताकर्षक नगर है और उर्दू-साहित्य के पिछले इतिहास की दृष्टि से प्रयाग की अपेक्षा अधिक योग्य ठहराये जाने का दावा कर सकता है। मै लखनऊ की अंजुमने उर्दू का सभापति रह चुका हूँ, इसलिए यह भ्रम उत्पन्न नही होना चाहिए कि मै किसी तरह लखनऊ के अधिकारों को भुला रहा हूँ। परन्तु मै अनुभव करता हूँ कि सरकार से एकेडेमी का सम्बन्ध होने के कारण प्रयाग को इसका केन्द्र नियुक्त करने मे अधिक सुभीता रहेगा। एकेडेमी का सरकार से सम्बन्ध इसकी दृढ़ता के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा और इससे एकेडेमी को वह जीवन और पुष्टि मिलेगी जो भारत की वर्त्तमान अवस्था मे केवल शासन की कृपा-दृष्टि से ही संभव

है। परन्तु मुझे पूरी आशा है कि संयुक्त-प्रान्त के पाँचो विश्वविद्यालय और संभवत: दूसरे विश्वविद्यालय और उर्दू-साहित्य से सहानुभूति और रस रखनेवाली ग़ैर सरकारी अंजुमने सभाएँ भी एकेडेमी के उद्देश्यो और ध्येयो की पूर्त्ति के लिए आपसे सहकारिता करेगी।

यूरोप के मध्ययुग

आपका आदेश है कि मै भारत के इतिहास के मध्ययुगो पर व्याख्या करूँ। अब देखना यह है कि इस "मध्ययुग" या "मध्यकाल" से कौन सा काल समझा जाय। यूरोप के इतिहास मे यद्यपि मध्यकाल का ठीक निश्चय नहा हुआ, तो भी इससे थोड़ा बहुत वही काल समझा जाता है जो पश्चिमी रोम-साम्राज्य के विनाशकाल से (सन् ४७६ से) आरंभ होकर तुर्कों-द्वारा कुस्तुनतुनिया की विजय के समय (सन् १४५३) समाप्त होता है। यह लगभग एक सहस्र वर्ष का समय निश्चय ही यूरोप बल्कि सम्पूर्ण मनुष्य-जाति के इतिहास के विकास मे एक विशेष और महत्त्वशाली पड़ाव की हैसियत रखता है। यह मध्यकाल यूरोप के प्राचीन प्रामाणिक साहित्य के युग को उसके वर्त्तमान इतिहास से मिलाता है। प्राचीन यूनानी और रोमन उत्कर्ष के समय मे जिन जातियो और नगरो का सिक्का जारी था उनके राजनीतिक महत्ता के धीरे धीरे पतन का समय यही है। इस युग मे यूरोप के भिन्न भिन्न वंशो का नये सिरे से संगठन हुआ, जर्मन गाथिक और स्कंडिनेवियन की रीति-नीति सारे यूरोप मे फैल गई और फिर धीरे धीरे उसी प्राचीन साहित्यवाली सभ्यता से प्रभान्वित (जिसकी शक्तियों का अब ह्रास हो रहा था) इन अभिनव सभ्यताओ का रंग-रूप बदलने लगा। इस युग मे रोमन-कैथलिक-सम्प्रदाय और पोप के शासन और

फिर सारे यूरोप मे इसके साधारण प्रभाव और प्रभुत्व की बदौलत एक विशेष हद तक समानता और समान विचार की उत्पत्ति हो गई। इसी काल मे (Feudalism) वंश-राज्य के विशेष रीति-नीति और नियम और मान और प्रतिष्ठा के आदर्श प्रकट हुए और अन्तत: यूरोप के विविध-देशों मे बलवान् और जातिविशिष्ट शासन की स्थापना से मिट मिटाकर रह गये। इन विशेषताओं से इस बात को भी जोड़ लो कि इस काल का इतिहास अन्धकार के आवरण मे छिपा सा दीखता है। और विपरीत इसके प्राचीन और वर्त्तमान इतिहास मे लोगों का जीवन-यापन, विचार और स्वभाव और सामाजिक नियम पर्य्याप्त स्पष्ट और प्रकट है।

भारत के इतिहास में मध्यकाल

क्या हिन्दुस्तान के इतिहास मे भी कोई ऐसी ही विशेषताएँ मिलती है जिनके सहारे हम एक काफ़ी भारी मुद्दत निश्चित करके उसे मध्यकाल का नाम दे सकें? मै प्रचलित पाठ्य-पुस्तको के प्रचलित क्रम को, जिसके अनुसार भारत के इतिहास को बुद्ध-पूर्व, बौद्ध, हिन्दू, मुसलिम और अँगरेज़ी युगों मे विभक्त किया जाता है, न तो शास्त्रीय रीति से शुद्ध मानता हूँ और न शास्त्र की दृष्टि से उपयोगी समझता हूँ। हम नहीं जानते कि बौद्धमत का प्रचार वास्तविक अर्थो मे कब तक रहा और न इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध है कि इस युग मे ब्राह्मण-धर्म का सर्वथा लोप हो चुका था। इसके सिवा "हिन्दू" शब्द से भी किसी युग को विविक्त और स्पष्ट रीति से दूसरे से भिन्न समझने से कोई मदद नहीं मिलती। इसी तरह मुसलिम और अँगरेजी काल का भी निश्चय कठिन है। उचित रीति यह है कि हम अपने इतिहास को तीन बड़े बड़े युगो मे विभक्त कर लें, अर्थात् प्राचीन, मध्य और नवीन। साधारण अर्थ

मे इतिहासकाल के आरम्भ होने से पहले के युग के सम्बन्ध मे भी हमारे पास पर्य्याप्त सामग्री मौजूद है, परन्तु इसकी कोई विशेष तिथियाँ निश्चित नही हो सकती। हाँ, हम इस सारी सामग्री को एक काल मे गुम्फित करके इसका नाम "इतिहास-पूर्व का युग" रख सकते हैं। परन्तु कठिनाई उस समय आगे आती है जब हम उस युग का तिथिक्रम निश्चित करने लगते है। यह संभव है कि "इतिहास-पूर्व" के युग की समीपतम सीमा गौतम बुद्ध के जन्मकाल तक रखी जाय और फिर प्राचीन इतिहास का आरभ बौद्धमत के प्रचारकाल से समझे। परन्तु हिन्दुस्तान के प्राचीन काल की समाप्ति कहाँ की जाय? केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इडिया मे तो इसे ईसवी सन् के आरंभ तक पहुँचाया गया है। मिस्टर के० डी० बी० काडरिंगटन के लेख से प्रकट होता है कि वह भारत के प्राचीन युग की समाप्ति गुप्तवंश तक समझते है। मिस्टर सी० वी० वैद्य ने अपनी पुस्तक "भारत का मध्यकाल" मे, [जिसकी तीन जिल्दे प्रकाशित हो चुकी है और एक अभी बाक़ी है,] हमारे इतिहास के मध्ययुग का आरंभ सन् ६०० ई० से आरंभ किया है और सन् १२०० ईसवी पर समाप्त किया है। आपके युनिवर्सिटी स्कूल आफ़ हिस्ट्री के मिस्टर ईश्वरीप्रसाद इस हिन्दू मध्ययुग का आरभ सन् ६४७ ई० से अर्थात् महाराजा हर्ष की मृत्यु से करते है और उसका अन्त उन्होने मुग़लो के भारत-विजय के अवसर पर किया है। आगे चल कर पता लगेगा कि मध्ययुग के इस सीमानिर्धारण के पक्ष मे बहुत से प्रमाण है।

हर्ष से पृथ्वीराज तक

यूरोप के इतिहास की जिन विशेषताओ की ऊपर चर्चा हो चुकी है यदि उनके मुकाबले मे कुछ ऐसी ही स्पष्ट विशेषताएँ भारत के

इतिहास मे भी मिल जायँ तो हमें एक विशेषकाल निश्चित करके मध्ययुग कहने मे बहुत सुभीता हो जाय। यदि असभ्य जातियों के समय समय पर भारत मे प्रवेश करने पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि अब से थोड़ी ही शताब्दी पहले तक कोई समय ऐसा नहीं बीता जब भारतवर्ष इन आक्रमणो से पूर्णतया सुरक्षित रहा हो। हमे मालूम नहीं कि आर्य्यों के आक्रमण से पहले भारतवर्ष पर कौन कौन सी जातियों ने आक्रमण किये, परन्तु इस बात का पूरा प्रमाण मौजूद है कि सिन्धु की घाटी को इराक़ की प्राचीन सभ्यता से कुछ न कुछ सम्बन्ध जरूर था। स्वयं आर्य्याक्रमण भी पर्य्याप्त रूप से दीर्घकाल तक जारी थे। इस बड़े काल मे बहुत से आर्य्यवंश समय समय पर भारत मे आये जो देश की भाषा के विकास पर अपनी छाप लगा गये है। जब हिन्दी आर्य्य देश मे बस गये और देश के मूलनिवासियों से कुछ संमिश्रित होने लगे, इसके बाद ईरानी और यूनानी जातियो ने चढ़ाई की और फिर इनके बाद तूरानियो और मध्य-एशिया के मिश्रित वंशो की चढ़ाइयों ने ज़ोर पकड़ा। यह सिलसिला सन् ईसवी के आरंभ से कुछ शताब्दी पीछे तक जारी रहा। गुप्तवंश के शासन-काल (सन् ३२० ई० से ४५५ ई० तक) की दृढ़ और सुसंगठित सभ्यता अपने पहले और पीछे की अराजकता की मरु भूमि मे एक सुरम्य मालवस्थली जान पड़ती है। सभ्यता और शासन की दृष्टि से महाराजा हर्षवर्धन का काल (सन् ६०६ से ६४७ ई० तक) गुप्त-सभ्यता की एक अन्तिम झलक मालूम होता है। हर्ष के पीछे वहुत सी चढाइयाँ हुई जिनका विस्तृत विवरण हमको पूर्णतया उपलब्ध नहीं है। परन्तु यह बात पूरी तौर पर प्रकट है कि हर्ष के पीछे चार शताब्दियो तक वहुत से विदेशी वश भारत मे आकर यहाँ के निवासियो मे संमिश्रित होते रहे। अब इस संमिश्रण का वेग पहले

से बहुत बढ गया था और हूण, गूजर, जाट के प्रभाव के कारण, जो राजपूत-वंशो का मूलस्रोत था, भारतनिवासियो का उपजाति-विभाग नये सिरे से हो गया। वास्तव मे हम इन चार शताब्दियो को "राजपूतकाल" का नाम दे सकते है। यदि हम राजपूतो के प्रभुत्व का काल दिल्ली के पृथ्वीराज के देहावसान पर (सन् ११९३ ई०) समाप्त करे तो मेरे विचार से अंधकार का एक पर्य्याप्त विस्तृत काल बन जाता है जिसे हम उचित रीति से मध्ययुग का आरंभ ठहरा सकते है।

पृथ्वीराज से मुग़लों के राज्य तक

परन्तु राजपूत-वंशो का यह नवीन संगठन भारत की जनता का कोई स्थिर विभाग और क्रम सिद्ध न हुआ। मुसलिम आक्रमण जिनके साथ बहुत से नये नये वश, नये नये राज्यप्रबन्ध और नीति-विधान की दृढ और स्पष्ट परंपरा भारत से आगई और भारत के सामाजिक और राजनीतिक अवस्था के समुद्र को मथ मथ कर बराबर क्रान्ति उत्पन्न करती रही। इससे भी अधिक महत्त्व की यह बात है कि मुसलिम सभ्यता हिन्दूधर्म मे आत्मसात हो जाने के बदले एक स्पष्ट और सदा के लिए विरोधी शील की उत्पत्ति का कारण हुई। लगभग सन् १००० से सन् १३१० ई० तक मुसलिम प्रभुता और शासन की लहरें कभी कम और कभी अधिक वेग से भारत मे लगातार आती रहो, यहाँ तक कि चौदहवी शताब्दी ईसवी के आरंभ मे लगभग सारा भारत, दक्षिणसमेत, मुसलिम प्रभुता से प्रभावान्वित और इसका बहुत बडा भाग सीधे मुसलिम शासन के अधीन हो गया। परन्तु इस समय भी समाज का कोई संगठन और क्रम न था और न उसके सामूहिक और राजनीतिक एव आर्थिक विकास के लिए कोई क्षेत्र ही था। लगभग सन् १३१० ई० और

सन् १५२६ ई० के बीच दिल्ली के राज्य के पतन के कारण बहुत सी स्थानीय रियासतें पैदा हो गईं। यह भी अधिकांश मुसलिम ही थीं। इनकी कोई निश्चित सीमाएँ न थीं और किसी रियासत के लिए भी किसी विशेष राजनीतिक संगठन को व्यवहार मे लाना सहज न था। सन् १५२६ ई० मे मुग़लों के भारत मे प्रवेश कर लेने पर वायुमंडल मे एक नई क्रान्ति देख पड़ी। अब यदि राजनीतिक प्रभुत्व मे नहीं तो कम से कम सामाजिक और राजनीतिक नीति और व्यवहार के अनुसरण मे थोड़ी बहुत दृढ़ता, कुछ संस्थापना और थोड़ी बहुत धृति उत्पन्न हो गई थी।

भारत के मध्ययुग के तीन विभाग

इसलिए मेरे विचार से यह श्रेयस्कर होगा कि भारत के मध्ययुग का आरंभ हर्ष की मृत्यु से (अर्थात् लगभग सातवीं शताब्दी के मध्य से) और अन्त मुग़ल-शासन की स्थापना पर (अर्थात् लगभग सोलहवीं शताब्दी के मध्य) समझा जाय। नव शताब्दियों का लम्बा काल फिर तीन स्पष्ट विभागों मे विभक्त हो सकता है अर्थात् (१) हिन्दू-समाज के लिये आरंभ से ही संगठन और नियमन का काल, (सन् ६४७ ई० से सन् १००० ई० तक), (२) मुसलिम प्रभुत्व के धीरे धीरे फैलने से प्रभावान्वित होकर भारतीय समाज के अधिक क्रम-नियमन और संगठन का काल (लगभग सन् १००० से सन् १३१० ई० तक), और (३) दिल्ली की बादशाही का पतन जिससे बहुत सी छोटी छोटी स्वाधीन रियासतें बन गईं और इस कारण भारत मे राष्ट्रीयता की दृष्टि से एकता के व्यवहार का लोप होगया था जिसका फल यह हुआ कि मुग़ल-आक्रमणों ने भारत पर अधिकार कर लिया (सन् १३१० से १५२६ ई० तक) हमे यह सब कुछ इस प्रस्तावनात्मक व्याख्या के बाद तीन व्याख्यानों

से समाप्त करना है इसलिए सर्वोत्तम उपाय यह होगा कि प्रत्येक युग अनुशीलन का आधार ऐसे प्रमाणो पर रखा जाय जो उसके आरंभ को स्पष्ट करते हो। मध्यकाल के उपर्युक्त विभाग से एक और लाभ यह होगा कि यह विभाग किसी हद तक यूरोप के मध्यकाल के विभाग से मिलता-जुलता है और इसलिए भारत के मध्यकाल के अनुशीलन के साथ ही साथ दोनो के इतिहास का परस्पर मिलान भी सहज ही हो सकेगा। यदि मध्यकाल का यह सीमा-निर्धारण ठीक मान लिया जाय तो मुग़ल-शासन-काल और अँगरेजी शासन-काल दोनो को मिलाकर वर्त्तमान युग या काल होगा जिनके बीच कोई नई क्रान्ति अचानक देखने मे नही आई, प्रत्युत क्रमश परिवर्त्तन होता रहा है। स्वयं मुग़ल भी वर्त्तमान काल के आन्दोलन से प्रभावान्वित हुए बिना नही रहे और उनके सम्बन्ध पाश्चात्य आर्थिक और राजनीतिक संसार से भी थे। मुग़लों के शासन-काल मे पूर्वी समुद्रो मे यूरोपवालो की कर्मण्यता के विस्तार के कारण वैदेशिक सामुद्रिक व्यापार धीरे धीरे उन्नति करता गया जिससे भारत का आर्थिक जीवन अधिकाधिक वर्त्तमान-रूप धारण करने लगा।

दूसरा व्याख्यान

(ईसा की सातवीं शताब्दी)

आर्थिक और सामाजिक दशाएँ

यह मान लेने के बाद कि हमारे मध्यकाल सातवी शताब्दी के मध्य से आरंभ होकर सोलहवी शताब्दी के मध्य मे समाप्त हो जाते हैं, हम सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओ के अनुशीलन के लिये तीन प्रमुख शासनकाल बहुत सुभीते से चुन सकते है जिनसे इन विभागों का आरंभ होता है। पहला राज्यकाल जो मै चुनूँगा महाराज हर्ष का राजत्व काल है। इसमे हमारे अनुशीलन के लिये पर्य्याप्त सामग्री उपलब्ध है। यद्यपि आर्थिक अनुशीलन के लिये पूरी सामग्री नही मिलती, तो भी सामाजिक जीवन का हम प्राय: पूरा चित्र खींच सकते है। परन्तु आर्थिक और सामाजिक विषय प्राय: ऐसे मिले जुले होते है कि उनमे कोई स्पष्ट विभाजक रेखा निश्चित नहीं की जा सकती। अब हम उन विषयों की एक संक्षिप्त आलोचना करेगे जो इस काल के सम्बन्ध के प्रमाणों का बड़ी सावधानी से और ध्यान से अनुशीलन करने पर उपलब्ध होते हैं।

प्रमाणपत्र और साक्षी

(क) रूपक

इन साक्षियों को चार समूहों मे बाँट सकते हैं। पहला समूह उस समय का रूपक काव्य है जिसके प्रतिनिधि का काम

वह तीन रूपक बड़े सौंदर्य्य से करते हैं जो स्वयं महाराज हर्षवर्धन के लिखे हुए बतलाये जाते है अर्थात् प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाएँ और नागानन्द नाटक। प्राय. सभी विशेषज्ञ इन तीनों को एक ही व्यक्ति की रचना ठहराने के पक्ष मे है। यदि यह रूपक वस्तुत: और पूर्णत· महाराजा हर्ष की रचना न भी हो तो भी इस बारे मे तो सन्देह की कोई समाई नहीं दीखती कि यह तीनो उनकी संरक्षकता मे रचे गये थे। हमारे उद्देश्य के लिये इतना ही जान लेना पर्य्याप्त है कि यह लगभग किस काल मे लिखे गये और जब कि इस संबन्ध मे रत्ती भर सन्देह या मतभेद नही है इसलिए हमे यह विश्वास कर लेने मे कोई बाधा नहीं है कि जिन घटनाओ का इन रूपकों मे उल्लेख है वह सातवी शताब्दी के सामाजिक जीवन का ठीक ठीक चित्र उतारती है। यह तो ठीक है कि इन नाटकों की दृष्टि-परिधि बहुत संकुचित है। यह केवल दरबार और दरबारी सरदारो के मनोरंजन के लिये बनाये गये थे। इनके वस्तु विषय भी अन्त:पुर की प्रेम घटनाओ के विशेप पक्षो तक ही मर्य्यादित है। परन्तु इतना होते हुए भी जिस काल मे यह लिखे गये थे उसके वास्तविक जीवन का अटकल लगाने के लिये बहुत महत्त्व के है।

(ख) बाणभट्ट का गद्यकाव्य और उपन्यास

प्रमाणपत्रों का दूसरा समूह बाणभट्ट के दो गद्यकाव्य हैं। यह हर्ष का दरबारी था। और अपने समय के शील और आचार के सम्बन्ध मे बहुत ही स्पष्ट और उपयोगी वर्णन छोड़ गया है। इनमे से हर्षचरित महाराजा हर्षवर्धन के आरंभिक जीवन के वृत्तों और घटनाओं पर अवलम्बित प्रशसात्मक कथा है जिसमे उनके वंश की उन्नति और महत्ता की भी गद्य कविता मे चर्चा की गई

है। दूसरी रचना कादम्बरी है जो संस्कृत गद्य का एक उत्तम नमूना है और सभी कालों मे भारत के विद्वानों से प्रशंसा का कर उगाहती आई है। इसमे एक अद्भुत शुक की कहानी अत्यन्त मनोमोहक और एचपेच के ढंग से वर्णन की गई है वास्तविकता और सत्य के बाह्य वायुमंडल मे प्रेम और शृंगार, वीरता और अलौकिक रीति से रूपपरिवर्तन की मनोरंजक कथाएँ (कथाओं के बीच मे कथाएँ) अत्यन्त सौन्दर्य्य और सफलता से समाविष्ट है। बाणभट्ट ने जीवन के विविध अंगों के चित्रण के समय उसके अंश अंश को बड़े मनोयोग और श्रम से रंजित किया है। जीवन के चित्रण मे बहुत सूक्ष्म रंजन के सम्बन्ध मे उसका ढंग वर्त्तमान काल के अँगरेज़ी साहित्य मे काम्पटन मेकेज़ी के उपन्यासो के सदृश है। परन्तु बाणभट्ट की मेकेज़ी से वही समानता है जो प्राच्य उत्कीर्णन के उत्तम नमूने की किसी यूरोपीय ज़रदोज़ की दर्शनीय कारीगरी से हो सकती है। बाण के रंगीन और जड़ाऊ शब्दचित्रण मे अत्युक्ति का बहुत कुछ प्रवेश है, परन्तु इस अत्युक्ति को निकाल देने पर भी हमारे पास उस काल का एक ऐसा पूरा चित्र रह जाता है जो उससे कई शताब्दी बाद के समय के संबन्ध में भी कहीं नहीं मिलता। इन दोनों रचनाओं के अत्युत्तम अँगरेज़ी अनुवाद पढ़ने के लिये प्राप्य हैं, जो लंदन की (Oriental Translation Fund Series) प्राच्य ग्रंथमाला मे समाविष्ट हैं। कादम्बरी का अनुवाद (Miss C M Ridding) मिस० सी० एम्० रिडिंग ने और हर्ष-चरित का अनुवाद (E B Cowell & F W Thomas) ई० बी० कावेल और एफ़० डबल्यू० टामस ने किया है। यदि हिन्दुस्तानी एकेडेमी संस्कृत ग्रंथों का उर्दू मे उल्था करने की इच्छुक हो तो इन दोनो अनुवादो की दृढ़ता से सिफ़ारिश की जा सकती है। इस बात का निश्चय कि इनका उर्दू मे अनुवाद हो भी

सकता है या नहीं, हम उन लोगों पर छोड़ देते हैं जो इस कठिन मार्ग के यात्री होने का साहस करे।

(ग) चीनी यात्री

इस समयविभाग के सम्बन्ध मे प्रामाणिक साक्षियो के तीसरे समूह मे युवान्च्वांग की [जिसे ह्यूँत्साग भी लिखते हैं] यात्रा और जीवनी सम्मिलित है जो चीनी भाषा मे लिखी गई थी। यात्रा का सबसे हाल का और उत्तम उल्था वह है जो (Thomas Watters) टामस वाटर्स ने किया है। (Oriental Translation Fund) और उसकी जीवनी का केवल एक ही अँगरेज़ी अनुवाद है जो (Mr S Beal) मिस्टर एस्० बील ने किया था और अब से कोई एक शताब्दी पहले प्रकाशित हुआ था। यह अनुवाद शुद्धता की दृष्टि से कुछ अधिक विश्वसनीय नही है। मैंने अपनी छोटी सी अँगरेज़ी पुस्तिका (Three Travellers to India) "भारत मे तीन यात्री" मे भारत के सम्बन्ध में इस चीनी यात्री के वर्णन का एक संक्षिप्त सा रेखाचित्र दे रखा है। यह पुस्तक पंजाब विश्वविद्यालय की प्रवेशिका के पाठ्यग्रन्थों मे सम्मिलित है।

(घ) लिपियाँ और सूक्ष्म कलाएँ

प्रामाणिक साक्षियों का चौथा समूह सिक्को और लिपियो और उस समय की कांसकारी और खुदाई के नमूने हैं। जहाँ तक हर्ष के शासनकाल के सिक्कों का सम्बन्ध है हमारे पास उनके बहुत कम नमूने मौजूद है। और यह बात कुछ आश्चर्यकर नहीं है क्योंकि युवान्च्वांग लिखता है* कि समुद्रमार्ग से जो माल आता था

*युवान्च्वाग, जिल्द १, पृष्ठ १७८।

उनके क्रय-विक्रय की रीति वस्तु-विनिमय थी, और भीतरी व्यापार मे सोने-चाँदी के सिक्कों के सिवा कौड़ियाँ और छोटे छोटे मोती अधिक बरते जाते थे। लिपियों के हमारे पास तीन नमूने मौजूद हैं जिनमे से दो तो ताम्रपत्र है (अर्थात् भूमिदान के वह प्रमाण जो ताँबे की तख़्तियो पर खुदे हुए मिलते हैं)। इनसे हमे मालगुज़ारी वसूल करने की साधारण देहाती रीतियों के सम्बन्ध मे कुछ अभिज्ञता होती है। उस समय की कास्तकारी और खुदाई के नमूने निज़ाम-राज्य के उत्तर मे अजन्ता मे और ग्वालियर-राज्य के दक्खिन मे धार से कोई पचास मील पच्छिम की ओर बाग़ की गुफ़ाओं मे देखे जा सकते है। इन दोनो कलाओ के चित्रों का संग्रह लंदन की (India Society) इंडिया सोसैटी ने प्रकाशित कराया है और कई चित्र काडरिंगटन की (Cadrington's Ancient India) अँगरेज़ी किताब "प्राचीन भारत" मे भी शामिल हैं।

राजा, मंत्री और गृह-प्रबन्ध

बाणभट्ट की प्रशंसा के पात्र स्वयं महाराजा हर्ष है और सारे चरित मे उनके विरुद्ध इसके सिवा कोई बात नहीं मिलती कि अपने समसामयिक राजाओ और शासको के साथ उसका बर्त्ताव थोड़ा बहुत प्रभुत्व का होता था*। उनके दृढ़ और बलवान् चरित्र का, विविध सम्प्रदायो से सहनशीलता का, बहिन से अत्यन्त प्रेम, और धर्म्म और साहित्य तथा संगीत और ललित कलाओ से उसके अत्यन्त मनोयोग का समर्थन चीनी यात्री ने भी किया है। हर्ष को वास्तव मे एक असाधारण मनुष्य और शासक समझ सकते है, परन्तु हर्ष के नाटको मे साधारण राजा का जो चित्र खींचा

---

* तीन यात्री, पृ० २४।

गया है उससे तो इस काल के शासकों का दुर्वल और विषयी होना ही सिद्ध होता है। ऐसे साधारण राजाओ के राज्य का संगठन अपनी स्थिति के लिये राज-भक्त ब्राह्मण मंत्रियों की सुव्यवस्था का उपकृत होता था, परन्तु यह मंत्री भी कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र के राजनीति की दुर्वलताओं से मुक्त नहीं होते थे। सामान्यत राजा की कई कई रानियाँ होती थीं जो राजा के मरने पर सती हो जाती थीं*। उनके सिवा राजा के अन्त.पुर मे अनेक दासियाँ भी होती थीं। अन्त:पुर की रक्षा कुबड़े, बौने और बूढे आदमी करते थे†। वड़ी रानी प्राय अन्त:पुर की युवती और सुन्दरी स्त्रियों से अत्यन्त ईर्षा रखती थी। परन्तु जव उनमे से कोई ऊँचे और श्रेष्ठ वंश की सिद्ध हो जाती तो वड़ी रानी राजा को उसके विवाह कर लेने की स्वीकृति दे देती थी। और उसे अपनी सपत्नी से वरावरी का बर्ताव करना पड़ता था।

देवियाँ और उनके शील-स्वभाव

ऊँची श्रेणी की स्त्रियो मे परदे का थोड़ा-बहुत रवाज था। कहीं कहीं रानी के अवगुंठन की भी चर्चा आती है‡ और नाटक से यह भी मालूम होता हे कि जब राजा ने अपनी रानी को जादूगर के करतब दिखलाने को बुलाया तो पहले सब लोगों को कमरे से बाहर चले जाने की आज्ञा दे दी§। रानी की एक सहेली की चर्चा भी "पंडिता" की हैसियत मे आयी है जो किसी ऊँची श्रेणी की बड़ी

---

* प्रियदर्शिका, पृ० ५७।

† प्रियदर्शिका, पृ० ७५।

इस काल मे हीजड़े अवश्य पाये जाते होंगे क्योंकि इससे पहले मनु और महाभारत मे भी उनकी चर्चा आई है।

‡ रत्नावलीनाटिका अक २, नागानन्द अक ३।

§ रत्नावली अंक ४।

अवस्था की स्त्री थी और राजवंश का जी बहलाने के लिये छोटे छोटे रूपक या दृश्यों की रचना करके उन्हे दिखाने का प्रबन्ध किया करती थी* । ऊँचे घराने की किशोरियों को संगीत, नृत्य और वाद्यकला सिखाई जाती थी ।

ब्राह्मण विदूषक

राजकीय प्रेम और शृंगार के प्रसंग का अवलम्ब प्राय: विदूषक की ही कृपा पर रहा करता था । यद्यपि यह होता था ब्राह्मण तथापि नाटक मे उसे घृणा का पात्र बना कर उपस्थित किया जाता था । "यह लालच का दास था" और साधारण अनुचर भी इसकी खिल्ली उड़ाते थे† । एक नाटक मे ब्राह्मण विदूषक को एक दास बुरी तरह घसीटता है, उसका पवित्र यज्ञोपवीत तोड़ देता है और अत्यन्त मुँहफट रीति से ब्राह्मण-देवता को "भूरा बन्दर" कहकर सम्बोधन करता है । बाण स्वयं ब्राह्मण था परन्तु उसकी लेखनी से भी एक जगह "चिड़चिड़े और लड़ाके ब्राह्मण" जैसे शब्द विद्यमान है ‡ दृश्य यह था कि यह ब्राह्मण राजा की सवारी निकलते देखने के लिये पेड़ों पर चढ़े बैठे थे और नीचे खड़े बल्लम बरदार उन्हे अपने डंडों से बे-तरह कोंच रहे थे ।

राजप्रासाद

राजा की नित्यक्रिया

राजप्रासाद की भीते सफ़ेद रेशमी परदे लटका कर सजाई जाती थीं । गच पर चन्दन के अर्क का छिड़काव होता था । उसमे

---

* प्रियदर्शिका पृष्ठ० ४७

† नागानन्द पृ० ४४

‡ हर्पचरित पृ० २०६ ।

बहुत उत्तम प्रकार की कस्तूरी मिली होती थी। केवड़े की सुगन्ध अधिक व्यवहृत होती थी। कमरे मे एक गुप्त कोठरी सी बनाकर उसमे सफ़ेद पलँग और जड़ाऊ पायदान रखा होता था। यहाॅ राजा जी व्यायाम और दोपहर के स्नान के बाद आराम करते थे। उस समय एक किशोरी दासी अपने नव कमलदल सी कोमल हथेली से धीरे धीरे उनके पाॅव सुहलाया करती थी। वह दूसरे देशो के राजाओ और मंत्रियो से यही भेट करते थे और उन मित्रो को भी यहीं दर्शनो का सम्मान मिलता था जो अपने पद की दृष्टि से अपेक्षाकृत एकान्त मे भेट करने के अधिकारी थे*। महल के कुछ कमरो की भीते चित्रकारी से सजी होती थीं। इन कमरों को चित्रशाला कहते थे†। प्रत्येक कृतविद्य शासक प्राय: यंत्र मंत्र तंत्र की कलाओं से पूर्ण अभिज्ञ और विषों के मारको का पूर्ण ज्ञाता होता था‡। परन्तु शासक और शासित के सम्बन्ध से राष्ट्रीय भावो का जाग्रत होना आवश्यक न था, यहाॅ तक कि किसी बाहरी वैरी के आक्रमण के आरंभ मे ही ज़मींदार लोग सामना करने के बदले कुछ काल के लिये उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लेते थे। यदि राजा के चित्त की प्रवृत्ति बौद्धमत के सिद्धान्तो की ओर होती, तो वह शस्त्र बाॅधकर प्रजा की रक्षा के उस परम कर्त्तव्य को भूल जाता था, जो एक क्षत्रिय की हैसियत से उसका दायित्व था। उस पर इसी विचार का अधिकार रहता था कि राज्य के लिये लाखो मनुष्यो का रक्त बहाना महापाप है§।

---

*कादम्बरी, पृ० १९

†प्रियदर्शिका, पृ० ४९।

‡प्रियदर्शिका, अक ४।

§नागानन्द, अक ३।

उज्जयिनी नगरी

अब हम हर्ष की राजधानी उज्जयिनी के उस चित्र को लेते हैं जो बाणभट्ट ने शब्दो मे खींचा है। उज्जयिनी एक उज्ज्वल सौख्यसम्पन्न नगरी थी जो केन्द्रस्थ होने के कारण दक्षिणी और पश्चिमी भारत की सम्पति की अधिकारिणी थी। उसके चारों ओर एक खाईं थी और रक्षा के लिये एक सुदृढ़ प्राचीर बनी हुई थी जो चूने से पुती श्वेत दीखती थी। बाण के वर्णन से तो प्रकट होता है कि जगह जगह नीले आकाश से बातें करनेवाले ऊँचे कलश भी बने हुए थे। बाज़ार वाणिज्य की सामग्री से भरे हुए होते थे। मोती, मूँगों और रत्नों का क्रय-विक्रय साधारण कारोबार था। नगर की चित्रशालाओं की भीते मनोहर दृश्यों के चित्रण से सजी होती थीं। इन चित्रों के विषय का अनुमान उन चित्रों से भली भाँति किया जा सकता है जो अजन्ता और बाग की गुफाओं मे अब तक विद्यमान है। भीतों पर चित्र दो प्रकार के बनाये जाते थे। एक वह जिनमे पानी के रंग तेल के बिना, पलस्तर सूखने से पहले भरे जाते थे, जिसको इटली की भाषा मे "फ्रेस्को" कहते हैं। दूसरी वह जो रंगों के साथ तेल की जगह कोई और स्निग्ध वस्तु जैसे अंडे की जरदी मिलाकर पलस्तर पर लगाई जाती थी। इस विधि को इटली की भाषा मे "टेम्परा" कहते है। विषय और दृश्य देवताओ, राक्षसों, नागों और और पौराणिक पात्रों के होते थे, परन्तु नित्य के वर्त्तमान जीवन के चित्र शायद ही कभी देखने मे आते थे। हर्ष के काल मे अधिकांश शिवजी की उपासना होती थी। जिन्हे इस काल के नाटकों और उपन्यासों मे मुख्य स्थान प्राप्त है। चौराहों पर मन्दिर थे जिन पर श्वेत ध्वजायें फहराती थीं। प्रेम के देवता कामदेवजी की भी पूजा होती

थी। उसकी ध्वजा पर मछली का चित्र होता था। वसन्त और शरत् मे लोगो के व्यापक मंगलोत्सवो की चर्चा भी नाटको मे आती है। इन त्योहारो मे प्रजा पर्य्याप्त रूप से स्वतंत्र थी और खूब हल्ला-गुल्ला होता था जो वर्त्तमान होली के त्योहार से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। घंटों की मनोहर ध्वनि सुनाई दिया करती थी और विशेष सूचनाएँ, जैसे राजा के शुभागमन और प्रस्थान की सूचना शंखध्वनि से दी जाती थी। वेदमंत्रों के उच्चारण के मनोहर सुरीले शब्द बहुधा कानो मे पहुँचते थे। अनेकों बाग़-वाटिकाएँ थीं जो निरन्तर चरस या डोलो से सिंचती रहती थीं। कुओ पर पक्की जगतें होती थीं और प्राय तहखाने भी होते थे। इन तहखानो मे जाने के लिए सीढ़ियाँ भी होती थीं जैसे आज-कल बावलियो मे जाने के लिये पायी जाती हैं। चारो ओर नगरी से बाहर घने पेड़ो के अँधेरे झुंड थे। शिप्रा नदी जो चर्म्मण्वती की सहायक है, शहर के पास से होकर बहती थी और शहर के आसपास कमलो से ढकी हुई अनेक झीलें बहार दिखाती थीं* ।

सर्वसाधारण की दिन-चर्य्या

उज्जयिनी के निवासी जैसा कि इस समृद्धि नगरी के लोगो को होना चाहिए था, बड़े प्रसन्नचित्त और सुखी थे। उन्हे अपने सार्वजनिक वस्तुओं के नमूनो पर बड़ा गर्व था। यह कुएँ, पुल, मंदिर, बाग़, तड़ाग आदि थे। राजमार्गों पर पशुओं को पिलाने के लिए जलाशय बने हुए थे जो ऊपर से छाये हुए

---

* कादम्बरी, पृ० २१।

थे। धार्मिक विद्यार्थियों के लिए धर्म्मशाला और सर्वसाधारण के लिए उत्सवालय बने हुए थे। उज्जयिनी वालो के लिए समुद्र के उत्तम से उत्तम रत्न नगरी की ओर खिंचे चले आते थे। बाणभट्ट के अनोखे शब्दों मे यह लोग यद्यपि वीर थे तथापि अत्यन्त शीलवान् मधुरभाषी थे तब भी सत्य का अंचल पकड़े रहते थे, सुघर और सुन्दर थे परन्तु पाप के मल से अस्पृश्य थे, अतिथि-सेवी थे परन्तु अतिथियों से भेट पाने की इच्छा न रखते थे, धन और प्रेम के उपासक थे परन्तु न्यायशील। उन्हे ललित कलाओ से अत्यन्त अनुराग था। उनकी बातचीत सूक्तियों और सुकल्पनाओं से अलंकृत होती थी। पहिरावा शानदार और निर्दोष पहनते थे। वह विदेशी भाषाये भी जानते थे। कथा-कहानी, पवित्र इतिहास और पुराणों की कथा के रसिक थे, परन्तु इसके साथ ही जुआड़ी भी पक्के थे*। मैना और तोते बड़े शौक से पालते थे। हौदे से सजे हुए या बिना अम्बारी के हाथी बहुतायत से पाये जाते थे और घोड़े भी सभी जगह देखने मे आते थे। बाण के इस शब्दचित्र का समर्थन उन चित्रों से भी होता है जो गुफाओ मे पाये जाते हैं।

गाँव, जंगल, आश्रम और चांडालों का आवास

देश की बस्ती घनी न थी। इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि सड़क आदि की कोई प्रशंसनीय व्यवस्था विद्यमान थी। बहुत सा भाग जंगलो से पटा पड़ा था जिनमे हाथी बहुतायत से रहते थे। सैकड़ो शेर बबर दहाड़ते फिरा करते थे। जंगलों मे संन्यासियो के आश्रम और पश्चात्ताप के लिए तपोवन थे। ऐसे

---

* कादम्बरी, पृ० २११-२१२।

स्थलों पर आखेट करते करते बहुधा राजा महाराज उतरा करते थे। संन्यासियों के आश्रम, ललनाओं के प्रभाव से रिक्त न थे। नाटको मे राजाओं के प्रेम-कथा का केन्द्र बहुधा कोई ऊँचे घराने की युवती होती थी जो किसी संन्यासी महात्मा की धर्म्मपुत्री की हैसियत मे अपनी ही अवस्था की बहुत सी सहेलियों मे पाली-पोसी गई थी।

बाण ने एक बड़ी विचित्र जंगली बस्ती की चर्चा की है। यह चांडालो के ठहरने की जगह थी जिसे बाणभट्ट ने दुनिया भर के दोषों का मूल लिखा है। चांडालों के लड़के अहेर खेलने, कुत्तो की डोरियाँ खोचने और छोड़ने, बाज़ सधाने, जाल की मरम्मत करने, हथियार सजाने और मछलियाँ पकड़ने मे व्यस्त देख पड़ते है। इनकी झोपडियाँ बाँस के घने जंगलों मे छिपी होती थी। उनके हातों की सीमाएँ खोपड़ियो के ढेरो की बनी होती थी। राहो मे जो कूड़ा-करकट के ढेर होते थे उनमे हड्डियाँ बड़े परिमाण मे पाई जाती थीं। झोपड़े के आँगन मे ख़ून, चरबी और मास के लोथड़ों की कीचड़ सी होती थी। उनका पहिरावा भद्दे से जंगली रेशम का होता था और बिछौने की जगह यह लोग सूखी खाले काम मे लाते थे। उनके घरों मे सन्तरी का काम कुत्तो से लिया जाता था और यह लोग गायों पर सवार होते थे। इस बीभत्स शब्द-चित्र का सार बाणभट्ट ने इस संक्षिप्त परन्तु भावपूर्ण वाक्य मे व्यक्त किया है कि "यह जगह सब नरक के अनुरूप थी।" शायद यह लोग उन अपराधी जातियों के पुरखे थे जिनके ठहरने की जगहे आजकल भी भारतवर्ष मे पाई जाती है। इन लोगो पर आजकल के से बन्धन न थे और जान पड़ता है कि वह अधिक सुखी और स्वच्छन्द थे। या शायद वह उन जातियों के प्रतिनिधि हों जिनका बहुत बड़ा अंश धीरे धीरे साधारण जन-समुदाय मे घुल-मिल चुका हो।

शिवजी के उपासक

हर्षचरित मे एक शैव-तपस्वी के रंग-रूप और पहिरावे का विस्तृत वर्णन मौजूद है जिसका अनुशीलन हमारे लिए उपयोगी होगा। उसके साथ योगियों का एक जमघट था। वह तड़के उठकर स्नान करता, आठों नियत प्रकार से फूलों की भेट चढ़ाता और हवन का प्रबन्ध करता था। धरती पर गऊ के ताज़े गोबर का चौका दिया जाता था। बाघम्बर पर तपस्वी बैठता था जिसके चारों ओर भस्म की एक मेड़ सी बनी होती थी। तन ढाँकने और शीत से बचने के लिए वह एक काला ऊनी चोला पहनता था। अपने बालों को ऊपर की ओर बटोर कर गाँठ दे लेता था। और उसकी जटाओं से माला की गोल गोल मणिकाएँ लटकती दीखती थीं। अवस्था पचपन वर्ष के लगभग होगी। सिर के कुछ बाल सफ़ेद होगये थे और चँदियाँ कही कहीं से गंजी दीखती थीं। कान बालो से ढक रहे थे। मस्तक चौड़ा था और उस पर भस्म का तिलक विराज रहा था। कभी कभी वह तेवरी चढ़ा लेता था। उसकी लम्बी लम्बी आँखें पीतिमायुक्त थीं और उनके कोनों मे लाल-लाल डोरे दिखाई देते थे। उसकी नाक का सिरा गरुड़ पक्षी की चोंच की तरह मुड़ा हुआ था। दाँत गिरने लग गये थे। परन्तु जो बच रहे थे वह उन्हीं भगवान् शंकर की कलगी की तरह श्वेत थे जो निरन्तर उसके हृत्कमल के सिंहासन पर विराज रहे थे।" उसका होंठ ज़रा नीचे को लटका हुआ था। लम्बे लम्बे कानों मे बिल्लौरी मुद्राएँ शोभा दे रही थीं। एक बाँह मे लोहे का वलय पहन रखा था और जड़ी बूटियो से निर्मित एक यंत्र बँधा हुआ था। दहिने हाथ से माला जपता रहता था। उसके वक्षःस्थल पर लटकती हुई लम्बी दाढ़ी मानों एक झाड़ थी जो हृदय को वासनाओं

के मल से साफ़ रखा करती थी। कोपीन पवित्र क्षौम का बना हुआ उज्ज्वल था। उसके पाँव के तलवे कोमल और लाल थे और वह निरन्तर खड़ाऊँ पहने रहता था जो बिलकुल श्वेत और पानी से धुली होती थी। उसके पास बाँस का एक दंडा था जिसके सिरे पर लोहे का शूल लगा हुआ था। बातचीत बहुत कम और धीरे धीरे करता था और साथ ही मुस्कुराता जाता था। उसके गंभीर विवेकवान् चेहरे पर दया और बुद्धि की झलक देख पड़ती थी उसके उदार रूप से सत्य और पवित्रता, तितिक्षा और धृति और आध्यात्मिक आनन्द टपकता था। बाणभट्ट के शब्दो मे "यह है महात्मा भैरवाचार्य्य का चित्र" जो सचमुच शिवजी के अवतार थे।*"

इस तरह के अनेक शब्द-चित्र मौजूद है परन्तु हम केवल दो और चित्रों के दिग्दर्शन पर सन्तोष करेगे। एक तो यह कि राजा के घर बेटा पैदा होने पर किस तरह उत्सव मनाया जाता था और दूसरे विंध्याचल मे एक सुदूर ग्राम का जो चित्र बाण ने खींचा है उस पर सरसरी निगाह डालेंगे।

राजकुमार का जन्मोत्सव

जब राजा के यहाँ पुत्र होता था तब यह मंगलमय संवाद समस्त नगर-निवासियो तक पहुँचा दिया जाता था। वे जी खोलकर आनन्द मनाते थे। उस समय निर्जीव पदार्थों मे भी आनन्द और मंगल की एक लहर दौड़ती दीखती थी। उसी समय नरसिहो मे से किसी के बजाये बिना ही ऊँचे और सुरीले

---

* हर्षचरित पृष्ठ २६२-२६४।

शब्द अपने आप निकलने लगते थे। ढोल और मृदंग अपने आप ज़ोर ज़ोर से बजने लगते थे मानों बिना कहे सुने स्वयं अपनी इच्छा और प्रवृत्ति से आनन्द मनाने लगते थे। घोड़े अपने अयाल हिला हिलाकर आनन्द के उद्रेक से हिनहिनाते थे। हाथी अपनी सूँड़ ऊपर उठाकर इस सार्वजनिक उत्सव मे सम्मिलित होते थे। होली की तरह आग की लपटे आकाश की ओर बढ़ती दिखाई देती थीं। ब्राह्मण-देवता उजले वस्त्र पहने वेद-मंत्रों का उच्चारण करते नन्हें राजपुत्र को आशीर्वाद देने आते थे। कुल के बड़े बूढ़े बड़ी शीघ्रता से राजप्रासाद मे जुटने लगते थे। इस कल्याणमय अवसर पर बहुत से बन्दी मुक्त किये जाते थे। और वह अपनी लम्बी लम्बी धूल से भरी दाढ़ियाँ हिलाते उछलते-कूदते समारोह मे जाकर मिल जाते थे। आनन्दमंगल के इस उत्साह और धूमधाम मे राजप्रासाद का सारा प्रबन्ध बिगड़ जाता था। जनता की भीड़ बल्लमबरदारों की रत्ती भर परवाह न करती थी। लोग रनिवास तक पहुँच जाते थे। इस समय स्वामी और दास समान देख पड़ते थे। बच्चे बूढ़े का कोई भेद न रहता था। विद्वान् और मूर्ख कंधे से कंधा मिलाये दीखते थे। सदाचारी और मदमत्त मे कोई भेद न रहता, बड़े घर की देवियाँ और साधारण गली गली मारी फिरनेवाली स्त्रियाँ एक ही ढंग पर अट्टहास करती दीखती थीं। निदान नगर का नगर लोक-परलोक से बेसुध होकर रंगरलियाँ मनाता देख पड़ता था। पड़ोस के राजाओ की रानियाँ सहस्रों की संख्या मे अपने पीछे पीछे दासो और दासियो के सिरों पर भाँति भाँति की भेट लिवाये राजप्रासाद की ओर आती दिखाई देती थीं। सुरालयों से गुलाबी रंग की सुरा के स्रोत बह निकलते थे और लोगो की उच्छृंखल भीड़ वे झिझक वेहूदा छेड़-छाड़ करती और वेरोक-टोक ऊधम मचाती फिरती थी। सब लोग ऐसे वेहोश और

वेसुध हो जाते थे जैसे पागलो का त्योहार मनाया जा रहा हो, क्योंकि यह राजकुमार के जन्म का मंगलमय दिन था*।

विंध्याचल में एक गाँव

विंध्याचल के जंगली गाँव के चारो ओर दूर दूर तक जगल फैले हुए थे। यहाँ बड़ के देवसार पेड़ दिखाई पड़ते थे जिनके चारो ओर सूखी शाखाओ से गायो के लिए बाड़े वना रखे थे। बहुधा छोटे मोटे बछड़ो पर आक्रमण करके बाघ उन्हे मार डाला करता था। उस हिंस्रजन्तु को फॉसने के लिये झल्लाये हुए किसानो ने फन्दे लगा रखे थे। जंगलो मे कहीं कहीं धानो के खेत खलियान और फसले देख पड़ती थीं। खेती बहुत कम होती थी और अधिकाश खेतो को फावडे से खोदकर बीज बोया जाता था। खेतो मे ऊँचे ऊँचे मचान वना रखे थे, जहाँ से लोग फसिल की रक्षा करते थे और जगली जानवरो को आते देखकर डरा-धमकाके भगा सकते थे। सड़क पर के पेड़ो से छोटी छोटी मॅड़इयाँ वनाई हुई थीं। उनमे लकड़ी की तिपाइयो पर पानी के वरतन रखे हुए थे। यहाँ सूर्य के आतप से वड़ा सुख मिलता था। कहीं कहीं लोहारो ने कोइला तैयार करने के लिये भट्टियाँ वना रखी थीं जिनमे लकड़ी के ढेर जल रहे थे। गॉव के लोग वडे वड़े कुल्हाडे कन्धो पर रखे और खाने के वरतन गले से लटकाये ईंधन जमा करने आया करते थे। कभी उनके आगे भारी भारी वैलो की जोड़ियाँ भी होती थीं। अहेरी और व्याधा हाथों मे जाल और पींजड़े लिये अपने धंधे की धुन मे फिरा करते थे। लोग हर तरह

*हर्षचरित, पृ० १११-११२ तक।

की जंगली पैदावार जैसे मधु, मोरछल, मोम आदि एकत्र करके गाँवों मे लाते थे। स्त्रियाँ जंगली फलो के टोकरे सिरों पर धरे चली आती थीं। गन्नों के हाते भी थे जिनकी बड़ी सेवा की जाती थी और चारों ओर बाड़ लगा रखी थी। इधर-उधर जहाँ देखो कृष्णमृग चौकड़ियाँ भरते दीखते थे। गाँववालों की झोपड़ियाँ बाँस और काँटेदार झाड़ियो के बीच एक दूसरे से दूर दूर तक फैली हुई थीं। धरती मे खूँटे गाड़ कर छोटे बछड़ों को उनसे बाँध रखा था। कुक्कुटों की ध्वनि से बिखरे हुए घरों की स्थिति का पता चलता था। भीतें बाँस के पत्तों, डालियों और घास-फूस से बनी हुई थीं। उनमे कहीं कही रंग के छींटे भी दिखाई पड़ जाते थे। लोगो ने छोटे छोटे जानवर जैसे, जंगली बिल्लियाँ सधाये हुए साँप और नेवले बड़े प्रेम से पाल रखे थे। इससे अटकल हो सकता है कि गाँव के जीवन और जंगल के जीवन मे कितनी समानता थी*।

जातियाँ और पहिरावे

साहित्यिक चित्रकार की लेखनी से निकले हुए इस अलंकृत वर्णन को छोड़कर हम उन आर्थिक विषयो का अनुशीलन करेंगे जो चीनी-यात्री के यात्रा-वर्णन मे से अपेक्षाकृत अधिक सीधे-सादे गद्य मे से प्राप्त हो सकते है। परन्तु इससे पहले कुछ ऐसे विषयों की ओर ध्यान देना उपयोगी सिद्ध होगा जो उस काल के उत्कीर्णन और चित्रण से प्रकट होते हैं। अजन्ता की गुफा मे† (जिसका

---

*हर्षचरित, पृ० २२५से २२६तक।

† काडरिंग्न, चित्र २५।

समय छठी से सातवी ईसवी शताब्दी तक लगा सकते हैं) उत्कीर्णन का अत्यन्त मनोहर काम मौजूद है जो खम्भों के ऊपरी भागो के परलो पर किया हुआ है। यह काम इतनी उँचाई पर है कि इसके रूपो पर साधारण यात्रियो की दृष्टि बहुत कम पड़ती है। स्त्रियों का नखशिख और विस्तार लगभग यूनानी ढंग का है। किसी किसी अन्य गुफाओं मे बहुधा चेहरे का रूप और समानता और सिर पर का पहिरावा ईरानी भी है। क्या यह काम यूनानी या ईरानी नमूने पर तैयार किया गया था ? महात्मा बुद्ध या बोधिसत्त्व और हाथ मे फूल लिये हुए इन्द्र के चित्रों की हलकी और सुन्दर रेखाओ से* जान पड़ता है कि उस समय चित्रकारी की कला सौन्दर्य्य की दृष्टि से किस उँचाई पर पहुँच चुकी थी। एक चित्र मे काले घूँघरवाले बालोवाला राजकुमार स्नान करता दिखाया गया है†। वह एक चौकी पर बैठा है और सेवक उस पर बरतनो मे से पानी डाल रहे है। इस चित्र से बाणभट्ट के शब्द-चित्रों की बड़ी अच्छा व्याख्या होती है। बाग की गुफाओ मे मानो स्त्रियो की दो मंडलियो के चित्र है ‡ जो चित्र-कला पर हद दरजे के अधिकार को, हाथों और मुखमंडल के अत्यन्त सुन्दर और मनोहर उत्कीर्णन को और सब मिलाकर नखशिख के अत्यन्त साम्य के साथ चित्र उतारने की कला की पराकाष्ठा को प्रमाणित करते है। यह बात भी यहाँ कहने योग्य है कि चेहरो की रंगत एक दूसरे से भिन्न है। गोरे चेहरे से लेकर काले भुजंगे तक हर रंग के चेहरो के चित्र विद्यमान है। इसी तरह रूप-रेखा और सिर के पहिरावे मे भेद है।

---

* अजन्ता, चित्र ११।

† अजन्ता, चित्र १२।

‡ बाग, गुफा चित्र।

चित्रों में जो कपड़े पहिना रखे हैं उनमे भी कमी-बेशी पाई जाती है। लगभग नग्नचित्र से लेकर पूरे पहिरावे मे बने हुए चित्र तक विद्यमान हैं जो इन दोनों मंडलियों के बीच देख पड़ते हैं। जान पड़ता है उस समय तक भारत की आबादी मे जाति-सम्मिश्रण ने अभी स्थिर रूप नहीं ग्रहण किया था। साहित्य और कथा-पुराण के रूपों मे जो साक्षी मिल सकती हैं उससे भी हम यही परिणाम निकाल सकते है।

भूस्वत्व के प्रकार

जिन आर्थिक विषयों की गौण रूप से चर्चा हो चुकी है उनके सिवा कोई कोई विशेष विषय संक्षेप से वर्णन किये जा सकते हैं। आज़मगढ़ ज़िले के माधव-बन के दान का जो पट्टा ताम्र-पत्र पर खुदा हुआ है* उससे पाँच प्रकार के लगान का पता चलता है, जो देहात मे धरती पर कबज़ा रखनेवालों को देने पड़ते थे, अर्थात् (१) तुलामाया, (२) पैदावार का एक नियत अंश, (३) नकद रकम, (४) वैयक्तिक सेवायें, और अन्य आय। तुलामाया से क्या अभिप्राय है ? संभवत: यह तौलाई से मिलती-जुलती कोई रीति होगी जो आजकल के पुराने ढंग की देहाती मंडियों मे प्रचलित है। हमारे लिये यह कहना कठिन है कि पैदावार का अंश, नकद रुपया और वैयक्तिक सेवाएँ तीनों के तीनो हर स्वत्वाधिकारी को एक साथ ही देने पड़ते थे, या भिन्न प्रकार की भूमि से प्रकारानुसार तीनों मे से कोई एक लगान वसूल किया जाता था। अधिक संभावना यह है कि किसी विशेष भूस्वत्व पर उनमे से कोई न कोई देय होगा परन्तु साथ ही गाँव मे या सामूहिक भाव से सारे देहात मे

---

* एपिग्राफ़िया इंडिका, पृ० १४६ ।

सबका ही प्रचार होगा। "अन्य आय" की व्यापक परिभाषा मे संभव है उन विविध रकमो, महसूल या सवाई आदि का समावेश हो जो आज तक देहातों मे वसूल की जाती हैं।

राज्य की अन्य आय

युवानच्वाग लिखता है कि भारत पर राज्य-कर का भार चीन की अपेक्षा हलका था और शासन भी कड़ा और अत्याचारी न था। परन्तु फिर भी वह अपने देश को भारत से बदलने पर राज़ी न था। भारत मे वंशों का स्याहा रजिस्टरो पर नही होता था और प्रजा को लाचार होकर मजूरी या बेगार नही देनी पड़ती थी। स्पष्ट है कि उसने भू-सम्बंधी संपूर्ण या आंशिक वैयक्तिक सेवा को बेगार मे नही गिना। राजा की मिल्कियत चार भागो मे बँटी होती थी, एक शासन के साधारण व्यय और राज्य की ओर से जो पूजापाठ होता था उसके लिये, एक ऊँचे सरकारी पदाधिकारियो की जागीरें के लिये, एक ऊँची विद्वत्ता और योग्यता वा दक्षता पर पुरस्कार पारितोषिक आदि के लिये, और विविध सम्प्रदायो की भेट के लिये। राजा की मिल्कियत मे खेती करनेवालो से उपज का षष्ठाश लगान के रूप मे लिया जाता था। भूमि-दान की चाल अधिक थी और राज्य के पदभोगियों को वेतन के बदले प्रायः जागीरे दी जाती थीं*।

उपज, रहन-सहन, रीति-रस्म

चुंगी का महसूल प्रचलित था और चौकी पर से तिजारती माल ले जाती बेर भी थोड़ा सा महसूल देना पड़ता था। खेतों मे धान

---

* युवानच्वाग, जिल्द १, पृ० १७६-१७७।

और गेहूँ बहुतायत से उपजते थे। इनके सिवा सरसों, खरबूज़ा और कद्दू की भी खेती होती थी। लोगों का साधारण भोजन दूध, घी, शक्कर, चपाती और भुना हुआ अनाज था और सरसों का तेल भी काम मे आता था। मछली, भेड़ और हिरण का मांस भी स्वादिष्ट खानों के तौर पर काम मे आता था। पीने के लिये विविध जातियों के लिये विविध वस्तुएँ नियुक्त थीं जिनमे से वैश्य लोग एक तेज़ और खिँचा हुआ मादक अर्क पीते थे। यहाँ के लोग हाथ से खाना खाते थे। चीनियों की तरह चमचा और बाँस की चिमटी से काम न लेते थे। हाँ, बीमारी की दशा मे ताँबे के चमचे काम मे आते थे *।

रोग और मृत्यु

रोग की दशा मे सात दिन के लिये रोगी का भोजन बन्द कर दिया जाता था। यदि इस उपवास से रोग न छूटता तो फिर चिकित्सा आरंभ करते। शायद उस समय भी आज-कल की तरह जिन्हे ईश्वर ने दे रखा था वह आवश्यकता से अधिक खा लेते थे, और जिन बेचारों का जीवन ही कठिनाई से चलता था वह नित्य की सूखी रोटी को भी तरसते थे। मुरदे की लाश या तो जला देते थे या नदी मे वहा दी जाती थी और या उसे योंही जंगली जानवरो का पेट भरने के लिये फेंक देते थे। ब्राह्मण धर्म के अनुयायी अपने मृतको पर रो-पीट कर शोक करते थे। परन्तु बौद्धों मे यह चाल न थी। † भिन्न भिन्न स्थानो पर दोनो धर्मवालों का अनुपात भिन्न था। बहुत जगहो पर यह बराबर बराबर भी होते थे।

---

* युवानच्वांग, जिल्द १, पृ० १७६-१७७।

† युवानच्वांग, जिल्द १, पृ० १४७-१७५।

अपराध, जात-पाँत

अपराधियों को बड़े कड़े दड दिये जाते थे, परन्तु अपराधों की अधिकता न थी। अपराधी को समाज-मंडली से अलग कर देते थे और जीवन भर के लिए बन्दी कर दिया जाता था। समाज-नीति के विरुद्ध आचरण करने और शासन या पिता से विद्रोह के अपराधी का कोई अंग जैसे नाक, एक कान, एक हाथ या एक पॉव काट डालते थे या उसे देशनिकाला दे दिया जाता था। कुछ अपराधों का दंड प्रतिवादी की सम्मति से जुरमाने तक ही मर्य्यादित रहता था। अभियुक्त के अपराधी या निरपराध होने का निश्चय करने के लिए विविध परीक्षाएँ नियत कर रखी थीं, जैसे यदि अपराधी पानी मे फेंक देने पर डूबने से बच जाय तो उसे दोष से मुक्त समझ लिया जाता था। इसी तरह तराजू आग और विष से भी सहायता ली जाती थी*। प्रसिद्ध चारों वर्णों के अतिरिक्त देश मे अनगिनत मिश्रित जातियाँ मौजूद थीं†।

भारतीय नीति और आचार

यह विस्तार सर्वागपूर्ण नही है परन्तु इससे चीनी यात्री के विचारों का पता लगता है और इन विचारों के लिए वह हमारे धन्यवादों का पात्र है। उसने भारतीय नीति की समीक्षा मे भी बड़ी उदारता से काम लिया है। इन विषयो के सम्बन्ध मे भारतीय साहित्य से जो प्रमाण मिलता है, क्योकि स्वयं देशवासियों की ओर से है, अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण और विस्तृत है।

---

* युवानच्वाग, जिल्द १, पृ० १७१-१७२।

† युवानच्वांग, जिल्द १, पृ० १६८।

तीसरा व्याख्यान

(ईसा की दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी)

प्रमाण-पत्र और साक्षी

मध्यकालीन भारत के दूसरे काल-विभाग पर ध्यान देते समय, जो लगभग दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी से शुरू होता है, हम बाणभट्ट ऐसे उपन्यासकार की खींची हुई तसवीरों की सहायता से वंचित रहेंगे। इसके विपरीत हमें भातीय विचारों के सम्बन्ध में मुसलिम दार्शनिक और गणितज्ञ अलबेरूनी के प्रामाणिक वर्णन से काम लेना होगा। अलबेरूनी ने ये बातें लगभग सन् १०३० ई० में लिखी थीं और वह केवल प्रसंग क्रम से कुछ ऐसे विषय और रीतियों का चर्चा कर गया है जिन से भारत के सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इसके सिवा मुसलिम भौगोलिकों और ऐतिहासिकों की रचनाओं में भी भारत का वृत्तान्त मिलता है। परन्तु यह कुछ शृंखलाविहीन-सा है क्योंकि सिंध, पंजाब और समुद्र-तट से आगे मुसलमानों का बहुत कम प्रवेश था। तो भी दूसरे उपायों से प्राप्त अभिज्ञता के स्पष्टीकरण और परिपूर्ण में उनसे बहुत कुछ सहायता मिलती है। रूपक-साहित्य में हमारे पास राजशेखर की कर्पूरमंजरी मौजूद है जिसकी रचना की तिथि लगभग ९०० ईसवी रक्खी जा सकती है। इसके सिवा राजशेखर की

कुछ और रचनाएँ भी है, जो यद्यपि इतनी महत्त्व की नहीं है तथापि उपयोगी अवश्य है। कर्पूरमंजरी रूपक आदि से अन्त तक प्राकृत मे है। इसके मूल का अनुशीलन हम स्टेनकोनौ (Stenknow) के प्रस्तुत किये हुए प्रशसनीय संस्करण द्वारा कर सकते है। मूल के अतिरिक्त इसमे सी० एच० लेनमेन (C H Lanman) की लेखनी से अँगरेजी उल्था भी मौजूद है। संभवत· आप जानते होगे कि इसका एक हिन्दी उल्था भी बनारस से प्रकाशित हुआ था, जो हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् कवि हरिश्चन्द्र ने संवत् १८३९ विक्रमी अर्थात् सन् १८८३ ई० मे किया था। जहाँ तक प्रस्तर लिपियो का सम्बन्ध है, इनकी अच्छी संख्या एकत्र कर ली गई है और इनके सम्पादन और व्याख्या के संबन्ध मे भी कुछ काम हो चुका है। इनका अनुशीलन करना चाहो तो भारतीय लिपिमाला (Epigiaphia Indica) की भारी भारी जिल्दे मौजूद है या इंडियन अंटीक्वेरी (Indian Antiquary) या एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बेगाल, रायल एशियाटिक सोसाइटी लंदन की बम्बई शाखा, और स्वयं रायल एशियाटिक सोसाइटी लंडन या उन दूसरी संस्थाओ के ग्रन्थो और सामयिक पुस्तको से हो सकता है जिन्हे प्राच्य देशों मे दिलचस्पी है। सोमदेव का कथासरित्सागर लगभग १०७० ई० मे लिखा गया था। इस कथाओ के संग्रह मे प्राचीन काल के सम्बन्ध से भी साधारण कथा पुराण और साहित्य से ली हुई प्रचुर सामग्री विद्यमान है, परन्तु कथाओ की वर्णन-शैली से स्वयं इस काल के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध मे भी पर्याप्त इशारे मिल जाते है। इस समय का उत्कीर्णन कला, चित्रकारी, और वास्तुविज्ञान का अनुशीलन उत्तम से उत्तम ढग पर एलीफेंटा और एलोरा की गुफाओ या चन्देल राजपूतो के मन्दिरो और इमारतों मे हो सकता है जिनके अत्यन्त सुन्दर नमूने अब तक

बुन्देलखंड की रियासत खजराह मे मौजूद है। पुरी मे श्रीजगन्नाथ जी का मन्दिर सन् ११५० ई० के लगभग बना था। इसमे पत्थर के काम के कोई कोई नमूने यद्यपि पीछे के काल से सम्बन्ध रखते है, तो भी इनसे कुछ ऐसे आन्दोलनों का अनुमान किया जा सकता है जिनका आरंभ ईसा की दसवी और ग्यारहवी शताब्दी मे हुआ था।

भाषाएँ

प्राकृतें और साधारण बोलचाल की भाषाएँ

पंडित* हरिश्चन्द्र कहते है कि कर्पूरमंजरी नाटक शुद्ध प्राकृत मे लिखा गया था। स्वयं उनके शब्द भी सुन लीजिए, लिखते हैं "यह नाटक शुद्ध प्राकृत भाषा मे राजशेखर कवि का बनाया हुआ है।" परन्तु आज कलके योरपीय इतिहासकारो ने सिद्ध कर दिया है कि राजशेखर के समय संस्कृत और प्राकृत दोनो मृत भाषाएँ थी। वह अपने नाटकों मे शौरसेनी और महाराष्ट्री मिली जुली काम मे लाता है। उसके समय मे ईसा की दसवी शताब्दी मे भारत की वास्तविक बोलियाँ सिर उठा रही थीं, और वह ऐसी भाषाओं, जैसे मरहठी, के शब्द बहुधा लिख जाता था†। वह स्वयं महाराष्ट्र का ही ब्राह्मण था, परन्तु कन्नौज के दरबार मे जाकर वहाँ राजगुरु नियुक्त हो गया था। बोलचाल की नई भाषाएँ इस समय अस्तित्व के क्षेत्र मे आने लगी थीं और इस समय तक संभवत: एक दूसरी से इतनी भिन्न न थीं जितनी पीछे हो गईं। संस्कृत और प्राकृत मे पारंगत हो जाने

---

*भारतेन्दु। †कर्पूरमंजरी, पृ० २३६।

पर पंडित लोग निःसंकोच सारे भारत की यात्रा कर सकते थे। अनेक देशो मे इनकी बातचीत न केवल साहित्यिक भाषाओ के द्वारा पढ़े लिखों की समझ मे आ जाती थी, प्रत्युत अपभ्रंशो के द्वारा जनता से भी काम चल जाता था। इन अपभ्रशो को संस्कृत से संभवत: वही सम्बन्ध होगा जो योरप के मध्यकाल मे इटली और फ्रास की भाषाओं का साहित्यिक धार्मिक वा अदालती भाषा लैटिन से होता था। अपभ्रशो से स्थानीय प्रभावो और आवश्यकताओ के कारण वर्त्तमान काल की देशी बोलियाँ पैदा हो रही थीं। दक्षिण देश मे द्राविड़ी भाषाओ के शब्द भी सस्कृत के साँचे मे ढल गये थे और दक्षिणी पंडित अपनी बोलियो का सम्बन्ध संस्कृत से मिलाने पर तैयार थे।

उत्तरी और दक्षिणी भारत के सम्बन्ध

उत्तरी और दक्षिणी भारत मे हर्ष के समय मे ही पर्य्याप्त सम्बन्ध हो गया था, परन्तु इस काल मे इन सम्बन्धो का सूत्र और भी दृढ हो गया। हर्षचरित मे जिन विद्वान् तपस्वियो की चर्चा आती है उन्हे और विशेषत: यंत्र-मत्रादि के प्रयोगी तांत्रिको को दाक्षिणात्य ही बताया गया है। दक्षिण मे हर्ष का समकालीन पल्लव राजा महेन्द्रविक्रम वर्म्मन था जो ईसा की सातवी शताब्दी के आरंभ मे काची (काजीवरम्) मे राज्य करता था। उसने एक हास्य-प्रधान रूपक लिखा था, जिसमे दो उत्तरी प्राकृते (शौरसेनी और मागधी) पाई जाती हैं। इस नाटक मे दो सम्प्रदायो अर्थात् बौद्ध और शैव धर्म्मों की चर्चा आती है और दोनो हास्योत्पादक ढंग पर लाये गये है। इसका कारण संभवत: नाटक का ढंग है क्योकि इसमे हर चीज़ का, यहाँ तक कि सब तरह के

तापसों और संन्यासियों की भी दिल्लगी उड़ाई गई है। यद्यपि इस नाटक का घटनास्थल कांची है परन्तु परिस्थिति और सभी साधारण बाते उत्तरीय भारत के नाटकों से बहुत ही कम भिन्न हैं। शंकराचार्य के समय (आठवीं सदी के अंत और नवी सदी के आदि) से भारत के विचारों और धर्म मे जो बहुत बड़ा धार्मिक परिवर्तन दिखाई पड़ा उसके नेतृत्व की पगड़ी वास्तव मे दक्षिण भारत के ही सिर बँधती है। शंकराचार्य्य ने उत्तरी और दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी सारे भारत का पर्यटन किया। इन यात्राओ से भारत के धार्मिक विचारों मे बहुत कुछ समानता उत्पन्न हो गई। इसके सिवा बौद्ध मत के विरुद्ध जो युद्ध चल रहा था उसे बहुत दृढ़ता पहुँची और अनिष्ट साम्प्रदायिक झगड़े दूर करके एक विस्तृत धार्मिक दर्शन के द्वारा लोगों मे एकता उत्पन्न करने का प्रयत्न होने लगा। राजशेखर के समय (लगभग सन् ९०० ई०) तक पहुँचने पर मालूम होता है कि उत्तर और दक्षिण के राजनैतिक झगड़े उनको भाषा, साहित्य और समाज-शास्त्र की दृष्टि से एक दूसरे के अधिक निकट लाने के उपकरण बन रहे थे। काव्यमीमांसा के १७ वे अध्याय मे वह अपने प्रकृत विषय से हट कर सारे भारत के सम्बन्ध मे भौगोलिक विस्तार का वर्णन करने लगता है। उस समय भी 'आर्यावर्त्त' हिमालय और विन्ध्याचल के बीच की भूमि का ही नाम था। उसके पूर्व, पश्चिम, उत्तर-दक्षिण की चारो सीमाओ का तो विस्तार से वर्णन किया है परन्तु मध्य-भाग का वर्णन विस्तार से नहीं किया क्योंकि प्रत्येक मनुष्य इस विभाग से पूर्ण परिचित समझा जाता था। इस प्रसंग मे जब कभी पूर्व दिशा की चर्चा हुई है तो वह बनारस से पूर्व के देशों के अर्थ मे हुई है*।

---

* वैद्य, जिल्द २ पृष्ठ ८, ९

वंशों का सम्मिश्रण और नया सामाजिक संगठन

राजशेखर ब्राह्मण था परन्तु उसकी धर्मपत्नी चौहान-वंश की राजपुत्री थी। ऊँची जातियों मे इस तरह परस्पर नातेदारी के और उदाहरण भी उपस्थित किये जा सकते है। संभवत इस समय की चाल यह होगी कि ब्राह्मण पुरुष किसी क्षत्राणी से विवाह कर ले, परंतु इसके विपरीत व्यवहार निषिद्ध होगा। बहुत से क्षत्रिय वैश्य स्त्रियो को कनिष्ठा की तरह पर ब्याह लाते थे*। सम्प्रदाय के विचार से राजशेखर शैव था परंतु जैन मतवालों के लिए उसके हृदय मे बड़ा सम्मान था। वह दक्षिण-भारत के शास्त्रार्थ और वहाँ के रीति-रसम, रंग-ढंग की चर्चा बड़े मनोरंजन से करता है। द्राविड़ी स्त्रियो की चर्चा करते समय वह उनके काले चेहरे, पवित्र मुसक्यान और सुपारी की छाल की रगड़ से सफ़ेद बने हुए "दाँतो" का वर्णन करता है। "करनाटक की नवयुवतियों के केश और लटा (नर्मदा के नीचे का उत्तरी विभाग) की अठखेलियो मे प्रवृत्त" भी उसके ध्यान को आकृष्ट करती है †। गंधर्व-विवाह जो केवल स्त्री और पुरुष के दैहिक संयोग का नाम है और जिसमे किसी प्रकार की रीति वर्तने की आवश्यकता नही है इस समय प्राय प्रचलित था और कथासरित्सागर से वंशो और जातियों के सम्मिश्रण का विषय परिपुष्ट होता है ‡। न केवल तीनो बड़ी जातियो के लोग परस्पर खान-पान कर सकते थे प्रत्युत शूद्रो की कई उप-जातियो से भी उनका इस तरह का सम्बंध हो जाता था§। परन्तु इसमे संदेह

---

* वैद्य, जिल्द २, पृष्ठ २१६।

† कर्पूरमंजरी, पृष्ठ १८०, १८१, २१२।

‡ कथासरित्सागर जिल्द १, पृष्ठ (प्रस्तावना) ४८।

§ वैद्य, जिल्द २, पृष्ठ २५१, २५२।

नहो कि अछूतों की एक अच्छी संख्या वर्त्तमान थी जो सामाजिक जीवन की परिधि से बिलकुल बाहर समझे जाते थे। वह आन्दोलन जिसके प्रभाव से विदेशी जातियाँ और असली रहनेवाले नये हिन्दू धर्म मे मिल-जुल गये, सातवी ईसवी शताब्दी तक के बड़े-बडे धार्मिक आन्दोलनो का समसामयिक था, जिनके बाहरी दशा के सम्बन्ध मे साक्षी और प्रमाण कम मिलते हैं। इस आन्दोलन के कारण नये सिरे से सामाजिक संगठन हो गया, जिससे राजपूत जाति पहली श्रेणी मे आ गई। इनके सिवा बहुत-सी नई जातियाँ भी बन गईं। पुरानी जातियों की, जैसे ब्राह्मणों की, प्रान्तों की दृष्टि से कई कई स्थानीय उपजातियाँ बन गईं जैसे कनौजिया, गौड़, सरवरिया इत्यादि। इनके पारस्परिक सम्बन्ध टूट गये और कार-बार, परस्पर खान-पान और नातेदारी के सम्बंध मे नई नई चाल और रीतियां पैदा हो गईं। संक्षेप मे हम उस परिणाम को स्वीकार कर सकते है जिस पर इन दशाओं को देखकर सर रिचर्ड टेम्पिल पहुँचे, कि यद्यपि जाति पाँति के विभेद का प्रभाव 'अनार्य्य' लोगों पर भी पड़ गया तो भी उसके उत्तर मे अनार्य्य लोगों ने भी आर्य्य विचारों के रंग-ढंग और उसके ऊपरी रंग-रूप मे एक भारी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया*।

प्रांतों की दृष्टि से चेहरों के वर्ण-भेद

राजशेखर की रचना 'काव्य-मीमांसा' के कुछ विचित्र वाक्यों से व्यक्त होता है † कि ईसा की दसवीं शताब्दी मे सर्व-साधारण, वर्ण की दृष्टि से, किस तरह जाति-पाँति का विभेद किया करते थे।

ल्ला, पृष्ठ ६४ से ६५ तक।

† वैद्य, जिल्द २ पृष्ठ ६।

कहता है "लोगो का रंग पूर्व देश मे सॉवला, दक्षिण मे काला, पश्चिम मे कुछ गोरा और उत्तर देश मे गोरा है। काव्य-मय वर्णन मे काले और सॉवले रंग मे और इसी तरह कुछ गोरी और गोरी रंगत मे अधिक अन्तर नहीं होता परन्तु यह बात विशेष रूप से उल्लेख्य है कि पूरब देश मे राजपूत और अन्य जातियो की स्त्रियों का रंग गोरा है या गोरे के लगभग भी हो सकता है। और यही दशा दक्खिन देश की है।" इससे दो परिणाम निकलते है एक यह कि गोरे वंश वाले भारत मे फैल रहे थे और दूसरा यह कि आपस का मेल मिलाप और सम्मिश्रण बड़ी हद तक जारी था। साधारण लोग इस सम्मिश्रण को छिपाने के लिए अपनी जाति के सम्बन्ध से प्राय· ऐसी बातें गढ़ लिया करते थे जिनसे प्रकट दशाओं और घटनाओं की जातियो के और वर्णाश्रम के प्राचीन और प्रामाणिक सिद्धातो से सु-सङ्गति हो जाय। कथानक-साहित्य मे अनेक योद्धा लुटेरे वंशों की चर्चा आती है जैसे भिल्ल, शबर, किरात और पुलिंद वग़ैर:। भिल्ल घटिया दर्जे के और मूर्ख लोग समझे जाते थे परन्तु यह बात भी मानी हुई है कि कभी कभी ये लोग भी सभ्यता और योग्यता का प्रमाण दे सकते थे। ये लोग भीमा दुर्गा देवी को बलि चढ़ाया करते थे परन्तु साथ ही साथ कभी कभी दया और कृतज्ञता के भावो से भी प्रभावित हो जाते थे*। इससे प्रकट होता है कि इस समय तक दुर्गा की पूजा न तो प्रचलित थी और न लोक-प्रिय और उसके भक्त कुछ थोड़े बहुत संकोच का अनुभव करते थे।

यंत्र मंत्र और जादू-टोने में लोकाभिरुचि

लोगो को सदैव यंत्र-मंत्र और जादू-टोनो पर बहुत-कुछ विश्वास रहता है परन्तु जान पड़ता है कि इस अंधकार के युग में इन

---

* कथासरित्सागर जिल्द ७ पृष्ठ (प्रस्तावना) ६।

बातों ने साहित्य के संसार में भी अधिकार जमा लिया था। कर्पूर-मञ्जरी के नाटक मे स्थिति और घटनाओं का सूत्र एक तांत्रिक के ही हाथ मे है। नायिका के व्यक्तिगत गुणों की प्रशंसा और प्रस्तावना इस घटना से की जाती है कि उसका हाथ लगते ही अशोक के एक वृक्ष मे फूल निकल आते हैं। लड़ाइयों मे मानव पुरुषार्थ के बदले अभिमंत्रित शस्त्रों से काम लिया जाता है। प्रेम और शृंगार के प्रसंग मे व्यक्ति के गुण और पुरुषार्थ के भाव और प्रभाव के बदले गुप्त सुरंगो, अप्राकृतिक, आकस्मिक घटनाओ और व्यापक तांत्रिक के भयदायक नाम और मंत्रो का सहारा ढूँढ़ा जाता है। राजशेखर के बाल-रामायण मे राम और सीता की महत्त्व-पूर्ण कथा जिस ढंग से वर्णन की गई है उसके अनुशीलन से बहुत से निष्कर्ष निकल सकते है। यह दस अंकों का एक भारी रूपक है जिसका नायक यदि रावण ठहराया जाय तो अनुचित न होगा। रावण सीता से विवाह करने का इच्छुक था। उसकी असफलता से घटनाओं का एक महानद उमड़ पड़ता है जिसका मूल स्रोत अच्छे वा बुरे मानव-उद्देश्य वा साध्य नहीं हैं प्रत्युत मंत्र तंत्र के चमत्कार और स्त्रियो और पुरुषो का बहुरूप होता है। गुडियों और खिलौनों के मुँह मे बोलते चालते शुक देकर उन्हें सीता और उनकी बहिन के रूप मे दिखाया जाता है और इस भोंडी चाल से जनता देखने मे धोखा खाकर यही समझने लगती है कि हम सीता और उनकी बहिन को देख रहे हैं* ।

आभूषण और अङ्ग-राग

मालूम होता है कि इस काल के जीवन मे बनावट का बहुत कुछ प्रवेश था। दरबारी महिलाओं और बड़े घर की स्त्रियों के आभूषण

---

* कीथ, पृष्ठ २३२ से २३९ तक।

और बनाव-सिंगार की वस्तुओ के सम्बन्ध मे जो अभिज्ञता प्राप्त होती है उससे इस बात मे तनिक भी संदेह की समाई नही रह जाती कि विषय-भोग और बनावट ने सौन्दर्य का गला घोट दिया था। ठंडक के लिए शरीर पर केशर मिले हुए उबटन मल कर पीली रंगत बनाई जाती थी। इसी तरह चेहरो के लिए भी केशर-मिश्रित अंगराग काम मे आता था। यह बात स्पष्ट नहीं की गई कि भिन्न भिन्न जातियो के लोग अपनी अपनी जाति के विशिष्ट तिलक किस पदार्थ से लगाया करते थे। देवी कर्पूरमञ्जरी का पहिरावा एक नीले रंग का रेशमी कपड़ा था जो उसने शरीर पर लपेट रक्खा था। उसके पटके मे लाल टॅके हुए थे। कलाइयो मे उसने कंगन पहन रक्खे थे। इस प्रसंग से आज कल की एक बहुत प्रसिद्ध हिन्दी कहावत ईसा की दसवी शताब्दी मे भी विख्यात थी। अर्थात् "हाथ कंगन को आरसी क्या है" जिसका तात्पर्य यह था कि हाथ से कंगन पहनने के लिए आइने की आवश्यकता क्या है। यह आइने सभवतः किसी धातु जैसे इस्पात, चॉदी या कॉसे के होते थे। इनका ऊपरी तल बहुत चमकीला होता था और एक छोटी-सी मुठिया भी लगी होती थी। प्राचीन भारत के जो स्मारक तक्षशिला के सग्रहालय मे जमा है उनमे इस तरह के आइने भी पाये जाते है। गले मे बड़े बड़े मोतियों का हार पहिना जाता था और कानो मे बालियॉ जिनमे जवाहिरात पिरोये होते थे। काले घूॅघर वाले केशो को फूलो के गजरों से ढॉक रखते थे जिनसे प्रकृति की नवीनता की झलक पैदा हो जाती थी। बालो और कानो की शोभा के लिए चम्पा की सुनहरी सुगंधित कलियॉ पहनी जाती थी। बादाम-सी लम्बी ऑखे जो नाटक के शब्दों मे "एक कान से दूसरे तक पहुँचती थी" सुन्दरता मे गिनी जाती थी। ऑखो मे काजल लगाते थे जिसको धो डालने पर ऑखे लाल दीखती

थीं। जाड़े में होठों पर मोम मलते थे कि वह फटने न पावें और नज़ले से बचने के लिए केशर व्यवहार करते थे। गर्मियों मे ताड़ की बड़ी बड़ी डालियाँ हवा करने के लिए हाथ के पंखो का काम देती थीं और लोगों को फुहारों के नीचे बैठकर नहाने का शौक़ था*। शरीर और कपड़ों के लिए सुगंध और धूप का प्रयोग भी बड़े लोगों मे प्रचलित था और केवड़े की धूप जलाने की चर्चा भी रूपक-कार ने विशेष रूप से की है।

झूले का त्योहार

झूले का महत्त्वपूर्ण त्योहार रंग रलियाँ मनाने के लिए अच्छी सामग्री एकत्र कर देता था। "यौवन के मद मे चूर, संसार और संसार की चिंताओं से दूर, लड़कियाँ झूले झूलती थीं। झूले के बारी बारी से कभी ऊपर कभी नीचे जाने, गहनों की झनकार और कपड़ों की सरसराहट का चित्र नाटक मे बहुत सुंदर खींचा गया है†। इसका भाषांतर करना तो कठिन काम है हम केवल उसके भाव पर ही संतोष करते हैं।

‡"जड़ाऊ पायजेब की मधुर मधुर झनकार कानो मे आरही हो,
भूमते हुए हाथ की चमक दमक से आँखे सुखी हो रही हों,
ग़ज़ब ढाने वाले पटके के घूँघरुओं के निरंतर शब्द और कँगनों
की हिलती हुई पंक्ति की मोहनी झनझनाहट कानो मे

---

* कर्पूरमञ्जरी अंक पहिला और दूसरा।

† कर्पूरमञ्जरी अंक ३, पृष्ठ २६८

‡ कर्पूरमञ्जरी, पृष्ठ २५५

लानमेन के क्रांतिकारी अँगरेज़ी उल्थे मे यह झनकार ख़ूब पैदा की गई है।

पहुँचती हो, जब चंद्रवदनी कामिनी इस ढँग से झूला झूल रही हो तो आप ही कहिए किसका मन वश मे रह सकता है ?"

इस तरह के बहुत से त्योहार थे जो लोगो के लिए जनता मे और अपने अपने घरो मे आनन्द-मंगल की सामग्री इकट्ठी करते थे। उनसे नाटक-कारों को भी अपने राजकीय संरक्षको के मनोरंजन के लिए रूपक रचना करने का अवसर हाथ आता था। परन्तु कैसे खेद की बात है कि मध्यकालीन भारत के रूपक-कारो की जिह्वा पर भी यह कभी न मिटने वाली शिकायत मौजूद है कि "सरस्वती के उपासक सदा दीन और दरिद्र बने रहते है।"*

साधारण कथानकों में ब्राह्मणों की चर्चा

एक जाति की दृष्टि से ब्राह्मण लोग अभी तक साहित्यिक और राजनैतिक दोनों प्रकार के पदो पर पूर्ण अधिकार रखते थे। इनसे आशा की जाती थी कि यह ऊँचे दर्जे की मानसिक योग्यता और समस्त नैतिक और धार्मिक गुणो से विभूषित होगे। परन्तु व्यवहार मे उन्हे कुछ अधिक आदर और सम्मान की दृष्टि से न देखा जाता था। सोमदेव ने जो स्वयं ब्राह्मण था उज्जैन के एक कंजूस और लोभी ब्राह्मण की कहानी स्वय मजे ले ले कर वर्णन की है। यह ब्राह्मण राजा का पुरोहित था। उसकी स्वार्थपरता और समृद्धि कहावत बन गई थी। दो धूर्तों ने निश्चय किया कि उसका धन उड़ाया जाय और साथ ही उसे लोक मे उपहास और ठठोले का पात्र बना दे। उनमे से एक ने दक्षिणी राजपूत का पहिरावा

---

*कर्पूरमञ्जरी, पृष्ठ २८८।

पहन कर नगर के बाहर डेरा जमा दिया। उसका साथी तपस्वी बन बैठा और नदी के किनारे तपस्या मे लग गया। बनावटी राजपूत नगर मे जाता और बातों बातो मे अपने साथी की सिद्धियो का खूब गुण गाता। उसने पुरोहित से राह रस्म पैदा करके उसकी ख़ुशामद शुरू की और उसके द्वारा राजदर्बार मे एक पद प्राप्त कर लिया। यह दोनो अपने आपको बड़े भक्त और सांसारिक विषयो से मुक्त प्रकट करते थे। बनावटी राजपूत धीरे धीरे पुरोहित का भेदिया बन गया और पुरोहित ने भेट आदि के लालच से उसे अपने घर ही मे रहने की जगह दे दी। राजपूत एक संदूक़ झूठे जवाहरात का ले आया परन्तु उनके मूल्य से इस आधार पर अनभिज्ञता प्रकट की कि मै सांसारिक कारबार के सम्बन्ध मे बिलकुल कोरा हूँ। इधर जवाहिरात को देखकर पुरोहितजी के मुँह मे पानी भर आया। कुछ दिन पीछे राजपूत अतिथि बीमार बन बैठा और इच्छा प्रकट की कि किसी साधु प्रकृति और तपस्वी को बुलाया जाय कि मै यह रत्न उसे विधिवत् दान दे दूँ। निदान उसका साथी जो साधू बना हुआ था बुलाया गया। वह कहने लगा कि मुझे धन दौलत से घृणा है। हाँ! इस बात पर वह राज़ी होगया कि मै पुरोहित की कन्या से विवाह कर लूँगा और सब जवाहरात पुरोहित को दे दूँगा। अंत मे वह रत्नो के बदले थोड़ी सी रकम स्वीकार करने पर राज़ी होगया और इसके बदले कितना रुपया दिया जाय इसका निश्चय भी पुरोहित पर छोड़ दिया। पुरोहित तो इन रत्नों को कुवेर की रिद्धि समझे बैठा था अतएव उसने एक भारी रक़म दे डाली और मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न था कि मैने ऐसी भारी रिद्धि नाम-मात्र का बदला देकर प्राप्त कर ली। जब विवाह हो चुका तो बेचारे पुरोहित पर रहस्य खुल गया। राजा अपने पुरोहित की समस्त दुर्बलताओं से पूर्णतया

अभिज्ञ था। इस धूर्त्तता का वृत्तान्त सुनकर हँसी के मारे लोट-पोट होगया* ।

राजपूत

राजपूत-जाति का आरम्भ एक ऐसा विषय है जिसके सम्बन्ध मे बहुत कुछ मतभेद पाया जाता है। इस समय मै वादग्रस्त विषयों पर विचार नहीं करना चाहता। यह बात तो सदेह रहित है कि ईसा की आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दी मे शासक जातियो का नये सिरे से संगठन हुआ था †। अब इनके सामाजिक संगठन के अवयव जातियों के बदले वंश बन गये थे। विवाह के नियमों के अनुसार उन्हे अपने वंश से बाहर विवाह करना पड़ता था। कुल की प्रतिष्ठा और मान के नये सिद्धान्त और नई परम्परा अस्तित्व मे आ रही थीं। अगले कालविभाग के वर्णन मे हम इन बातो पर विस्तृत विचार करेंगे।

अछूत जातियाँ और समाज से बहिष्कृत लोग

अछूतो की एक विस्तृत संख्या मौजूद थी जो शूद्रों से भी घटिया दर्जे के गिने जाते थे और चारो प्रामाणिक वर्णों से हर बात मे नीचे थे। इनकी चर्चा एलबेरूनी ने भी की है। ये आठ भागो मे विभक्त थे। आपस मे नातेदारी कर लेते थे, परन्तु धोबी, मोची और जुलाहों से शेष पॉच जातियॉ किसी तरह का सम्बन्ध न रखती थीं। ये पॉचो जातियॉ अग्र-लिखित थीं।

---

*कथासरित्सागर जिल्द २, पृ० १७६ से १८४ तक।

†स्मिथ का इतिहास, पृष्ठ १७२ से १७४ तक।

(१) बाज़ीगर, (२) टोकरे और ढालें बनानेवाले, (३) धीवर, (४) मछेरे और (५) व्याध। इन आठों जातियों को नगर और गाँव के भीतर रहने की आज्ञा न थी। हाँ! गाँव और शहर के पास झोपड़े बना सकते थे। इसलिए कि ये जातियाँ अपने अपने पेशों के नाम से प्रसिद्ध थीं। हम इन्हें पेशे वाली जातियाँ कह सकते है। इन पेशे वालों से भी नीचे दर्जे पर हाड़ी, डोम, चांडाल और विधातू थे। गाँव के गंदे काम इन्हें सौंपे जाते थे और इन्हे अत्यंत घृणित जाति का अछूत समझा जाता था। इनमे से भी हाड़ी दूसरों से कुछ ऊँचे गिने जाते थे। डोम गीत गाते और डफली की तरह का एक बाजा बजाया करते थे। आज-कल की जरायम पेशा जाति डोम सम्भवतः इन्हीं की वंशज है। इनसे घटिया श्रेणी के लोग वे थे जिनका वंशागत काम जल्लादी था और शायद इन्हीं को चांडाल कहते थे। विधातू न केवल मुर्दे खाते थे बल्कि कुत्ते और जंगली जानवरों का भी माँस चट कर जाते थे*।

ब्राह्मणों और मंदिरों के लिए स्थायी वृत्ति

इस समय विभाग की एक उल्लेख्य आर्थिक और सामाजिक विशेषता कुछ ऐसी देवोत्तर सम्पत्ति थी जो विशेष ब्राह्मणों, मन्दिरों और तीर्थों के लिए दे दी जाती थी। मुल्तान मे सूर्य-देवता का मन्दिर शहर भर की समृद्धि और सौख्य का कारण था। जब आठवीं शताब्दी के आरंभ मे अरबों ने पहले पहल मुल्तान जीत लिया तो मंदिर की मूर्त्ति ज्यों की त्यों रहने दी क्योंकि नगर भर का सौख्य इसी पर अवलम्बित था। थानेश्वर के मंदिर के

---

* एलबेरूनी जिल्द १, पृ० १०१ व १०२।

लिये भी एक भारी जागीर प्रदत्त थी। काठियावाड़ के दक्षिणी समुद्र-तट पर सोमनाथ के प्रसिद्ध मंदिर की स्मृद्धि का अवलंब सामुद्रिक व्यापार था*। कज़मीनी का बयान है की यात्रियों के बहुमूल्य चढ़ावे के अतिरिक्त उस मंदिर के नाम दस हज़ार गाँव की तहसील थी। पूजा-पाठ के प्रबंध और मंदिर की देख-भाल के लिए एक हजार ब्राह्मण नियुक्त थे। और द्वार पर पाँच सौ युवतियाँ नृत्य और गान के लिये नियुक्त थीं। इन सबका निर्वाह देवोत्तर सम्पत्ति की आय से होता था।

लिपि-कला और पुस्तकें

मध्य और उत्तर भारत मे लिखने के लिये एक तरह का भोज-पत्र बरता जाता था। पहिले इसे तेल मल कर खूब स्वच्छ और समान कर लेते थे और फिर जब कड़ा और चिकना हो जाता था तो उस पर लिखते थे। लिखने के बाद सारे पत्तों को दो तख्तियो के बीच रख कर ऊपर से कपड़ा लपेट देते थे। दक्षिण भारत मे यह काम प्राय. ताड के पत्तो से लिया जाता था। हर पत्ते के एक ओर छेद करके सबको तागे मे पिरो लेते थे और इस तरह पुस्तक सी बनाकर रख ली जाती थीं†। इन दोनो प्रकारों की बहुत सी लिखी पोथियाँ अब तक सुरक्षित हैं और सारे भारत मे पुरानी हस्तलिखित पोथियो के रसिक इनसे पूर्णतया अभिज्ञ हैं। परन्तु एलबेरूनी ने इस महत्त्व की विशेषता को छोड़ नही दिया कि साहित्य और विशेषत धार्मिक साहित्य का बहुत बड़ा

---

* इलियट जिल्द २, पृ० ९८।

† एलबेरूनी जिल्द १, पृ० १७१

अंश मुखाग्र ही चला आता था। प्राय: वेदों को लिपिबद्ध करने की आज्ञा नहीं दी जाती थी और एलबेरूनी के आने से कुछ ही काल पहिले एक काश्मीरी पंडित ने पहिले-पहल वेदों को लिपि-बद्ध करके पुस्तक का रूप दे दिया था*।

वेशभूषा, आचार-व्यवहार और रीति-रस्म

एलबेरूनी ने बहुत से ऐसे विभिन्न पहिरावे, आचार-व्यवहार और रीतियों का वर्णन किया है जो उसे विचित्र से लगे। उनमे से एक रीति यह थी कि यहाँ के लोग उस समय अपने सर बल्कि शरीर के किसी भाग के बाल न कटवाते थे और मूँछों को गूँथ कर रखते थे। नख भी बहुत बढ़ा लेते थे। खाना मिलकर नहीं बल्कि चौके मे बैठ कर अलग अलग खाते थे। चौका गाय के गोबर से लीप लिया जाता था। पान सुपारी और चूना [और कत्था, यद्यपि अलबेरुनी ने इसकी चर्चा नही की] खाने के कारण उनके दाँत लाल लाल दीखते थे। जब कोई बच्चा पैदा होता तो लोगों का ध्यान माँ के बदले अधिकतर बाप की ओर जाता था। उनकी शतरंज आज कल की पचीसी से कुछ मिलती-जुलती थी क्योंकि एक समय मे चार आदमी खेलते थे और पाँसों की जोड़ी भी इस्तेमाल की जाती थी। एलबेरूनी ने शतरंज की बिसात का नक़शा और खेल के नियम भी लिखे हैं। परन्तु इससे मालूम होता है कि इस खेल के नियम आज-कल की पचीसी से भिन्न थे। रीतियों के प्रभाव क्षेत्र का अटकल करते समय हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि अलबेरूनी के अनुभवो का क्षेत्र पंजाब और सिंधु तक ही

---

*एलबेरूनी जिल्द १, पृ० १२५ व १२६।

सीमित था। शायद इन स्थानो का पहिरावा पूर्वी और दक्षिणी भारत से सर्वथा भिन्न था, और अधिकाश उन ठंडे देशो के पहिरावे की तरह था, जो उत्तर-पश्चिमी पहाड़ों के उस पार स्थित है* ।

दो ताम्र-लिपियाँ

इस काल-विभाग की अनेक लिपियो से उस समय के सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओं के कुछ पहलुओ पर प्रकाश पड़ता है। मै आपका दक्षिण-भारत की दो लिपियो की ओर ध्यान दिलाता हूँ। इनमे से एक तो तंजोर के चोल-वंश के समय की है। यह ताम्र-पत्रो पर है जो अनबील ग्राम मे मिले हैं। दूसरी कनाड़ी भाषा की ताम्रलिपि है जो बम्बई-प्रान्त मे धारवाड़ के ज़िले से निकली है ।

ब्राह्मणों को भूमि-दान

सुन्दर चोल के समय की अनबील के ताम्र-पत्र ईसा की दसवी शताब्दी के अंत के बने हुए थे, और तजोर के आस-पास मिले थे। कुल ग्यारह ताम्र-पत्र थे। यह सबके सब एक छल्ले मे लिपटे हुए थे, और छल्ले के ऊपर एक प्रशंसनीय बनावट की मुद्रा अंकित थी। इस मुद्रा मे नीचे लिखी वस्तुओ का चित्र खुदा था।

> "एक शेर, दो मछलियाँ, एक धनुष, दो दीप-स्तम्भ, दो चूड़िया और छत्र।"

---

* एलबेरूनी जिल्द १, पृ० १७६ से १८९ तक।

हाशिये के चारो ओर संस्कृत मे एक श्लोक खुदा था। इन चित्रो का उत्कीर्णन कुछ हलका सा था। लिपि का प्रथम भाग संस्कृत मे था और उसमे उस पट्ट के शब्द उत्कीर्ण थे जिसके प्रमाण से चोलराज ने अपने विद्वान् और योग्य ब्राह्मण मंत्री को जागीर का दान किया था। दूसरे भाग की भाषा द्रविड़ थी और उसमे गाँव के रहनेवालों और पदाधिकारियों की ओर से स्वीकृति और प्रतिज्ञा लिखी थी। इस भूमि का क्षेत्रफल ४५ एकड़ के लगभग होगा और इतनी भूमि मंत्री जैसे ऊँचे पद के ब्राह्मण के लिये पर्याप्त समझी जाती थी। राजा केवल एक विशेष क्षेत्रफल इस दान के लिये नियुक्त कर देता था। उसके बाद सीमाबंधन और इस बात का निश्चय गाँववाले किया करते थे कि अमुक भूमि के क्षेत्रफल की आय अब से राजा के बदले जागीरदार को मिला करेगी। सीमाबंधन की रीति भी विचित्र थी। एक हथिनी को किसी नियत स्थान पर ले जाकर छोड़ देते थे और वह एक वृत्त-सा बनाकर लौट आती थी। इस साध्य के लिये कोई प्रबंध कर लिया जाता था कि हथिनी उसी स्थान पर लौट आवे जहाँ से भेजी गई थी। पीछे से सीमाओ पर मिट्टी के ढेर और नागफनी की हरी भरी झाड़ियो से चिह्न बना देते थे* ।

चोलवंश के राज्य में जंगलात

जागीरदार के सम्बंध मे लिखा है कि उसकी माता ने संसार के स्थिर रहने तक नित्य एक ब्राह्मण को चाँदी के बर्तन मे उत्तम प्रकार का भोजन धर्मार्थ देने का प्रबंध कर रखा था और हरि-मंदिर

---

* भारतीय लिपिमाला, जिल्द १९, पृ० ४४ से ७० तक।

श्रीरंगम मे एक भारी दीपक चढ़ाया था। चोल-शासनाधीन देश के दृश्य का कुछ अटकल इस संकेत से हो सकता है जो "समुद्रतट के घने जंगलो" की ओर किया गया है, जिनमे 'ताड़, साल, आबनूस, सुपारी और केले के अगणित पेड, पैधे और पान के झुंड के झुंड खड़े थे *।

भूस्वत्वाधिकार और किसानों से प्राप्य कर

जागीर के पट्टे का सार विषय विस्तृत शब्दो मे स्पष्ट कर रखा है और उससे देहात की आर्थिक दशा का अटकल करने मे सहायता मिलती है। हम उसे चार भागो मे विभक्त कर सकते है। (१) धरती और जो कुछ उस पर विद्यमान हो (२) पानी और उसके सम्बंध की सब वस्तुएँ (३) वह कर और महसूल जो जागीरदारो के लिये आज्ञानुसार देय था और (४) विशेष सुभीते जो जागीरदारों को प्राप्त थे। भूमि के सिवाय जागीरदार को अपने जागीर की नीचे लिखी वस्तुओ को बर्तने का अधिकार था।

> 'फलदार पेड़, दूसरे पेड़, बाग़, चट्टानो की दराड जिनमे मधु-मक्खियो के छाते होते थे, कुएँ, चौपाल, बंजर भूमि जिसमे बछड़ो के लिए गोचर भूमि होती थी, गाँव की बस्ती, वल्मीक, पेड़ो के चारो ओर बने हुए चबूतरे, मकान, मंदिर, बंजर, दलदल भूमि। पानी के सम्बन्ध की, नदियो, तालाबो, नदी से निकली धरती, जूहड़ो, और मछलियो वाली झीलो पर भी उसे अधिकार प्राप्त थे। कर आदि जो उसे मिलता था उसमे आगे लिखी वस्तुएँ भी समाविष्ट थी।

---

* भारतीय लिपिमाला, जिल्द १९, पृ० ६६।

'जुर्माना या ज़ब्ती जायदाद जो स्थानीय न्यायालय की आज्ञा से व्यवहार मे आवे, पान के पत्ते, हर एक करघे से बिने हुए कपड़ो पर कर, किसानो के परिवार मे कोई विवाह हो तो भेट, मंदिरों का इजारा और पुराने किसानों की बेदख़ली पर जो दंड प्राप्त हो। इनके सिवा वह वस्तुएँ जो राजा के बर्तने योग्य समझी जाती थीं अब राजा के बदले जागीरदार को मिलती थीं।
ब्राह्मण मंत्री को जो सुभीते प्राप्त थे उनमें नीचे लिखे अधिकार भी समाविष्ट थे। 'बड़े बड़े दालान और उत्सवालय और दो मंज़िले मकान पक्की ईंटों और खपरेलों से बना सकता था, बड़े और छोटे कुएँ खुदवा सकता था, भूमि की सिंचाई के लिये नालियाँ बना सकता था और कोई कोई सुगंधित जड़ी-बूटियाँ और पौधे लगाने की उसे अनुमति थी*।'

इससे मालूम होता है कि गाँवो मे साधारण घर कच्चे होते थे और पक्का मकान बनाने के लिये राजा से विशेष रूप से आज्ञा लेनी पड़ती थी। इसके सिवा यह भी प्रतीत होता है कि कुछ विशेष प्रकार की फ़सले बोने के लिए विशेष राजाज्ञा की आवश्यकता पड़ती थी।

मंदिरों की सेवा

अब हम कन्नड लिपि की चर्चा करते है। यह धारवाड़ ज़िले के एक गाँव कुलेनुर से निकली थी। इस पर ९५० शाका (तदनुसार सन् १०२८ ई०) लिखा है। यह लिपि एक पत्थर पर है जिसका ऊपरी भाग खुदाई के काम से सुशोभित है। बीच मे

---

* भारतीय लिपिमाला, जिल्द १९, पृ० ७१ व ७२।

एक मंदिर है। मंदिर मे एक लिंग स्थापित कर रखा है। और ऊपर एक कलश वाला गुम्बद बना हुआ है। गुम्बद के दोनों ओर एक एक चौरी है। ठीक मंदिर के दहिने ओर एक भक्त उकड़ूँ बैठा है। जिसका मुँह मंदिर की ओर नहीं बल्कि सामने की ओर है। इससे कुछ ऊपर एक घेरे मे दो मछलियाँ है और उनसे कुछ ऊपर चंद्रमा बना हुआ है। ख़ास मंदिर के बाँई तरफ़ एक गाय खड़ी है और बछड़ा उसका दूध पी रहा है। गाय से ज़रा ऊपर एक हल है और उससे ऊपर सूरज। खुदाई का यह तनिक तनिक सा विस्तार बहुत उपयोगी है; क्योंकि इससे देहात के जीवन के ढंग पर प्रकाश पड़ता है। असल पट्टा एक मंदिर के लिए माफ़ीनामा है और यह जागीर धान के कुछ खेतो और बारह मकानो पर समाविष्ट है। इसकी आय का कुछ भाग मंदिर के देवता के ख़र्च के लिये है। कुछ भाग उन मठों के लिये है जिनमे धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। एक भाग (संभवतः मंदिर के) नृसिंहा बजानेवालों के लिये और कुछ भाग जिसमे मकान भी शामिल है धौंसा बजानेवालो के लिए है। यह भी मंदिर की सेवा करते थे। यह बात उल्लेख्य है कि तपस्वियो को शौचाचार और ब्रह्मचर्य्य के व्रत पर स्थिर रहने के लिए कड़ी ताकीद कर रखी है*।

मुसलमानों का हिन्दुओं से सम्बन्ध

इस विषय पर विचार समाप्त करने से पहले यह बता देना उचित जान पड़ता है कि गङ्गा की घाटी मे विजयी की तरह प्रवेश करने से बहुत काल पहले मुसलमान लोग अत्यंत थोड़ी संख्या मे

* भारतीय लिपिमाला, जिल्द १५, पृ० ३२९ से ३३४ तक।

दक्षिणी भारत के समुद्रतट पर फैले हुए थे। दक्षिण भारत के विस्तृत राष्ट्रकूट राज्य से अरब के लोग पूर्णतया अभिज्ञ थे। उन्होंने वहाँ के राजा का नाम बल्लहरा (बल्लभराज) लिखा है। मसौदी, जो सन् ९५६ ई० के लगभग मरा, लिखता है :—

"सिन्ध और भारत के राजाओ मे से कोई भी मुसलमानों की इज़्ज़त बल्लहरा से अधिक नहीं करता था उसके राज्य मे इस्लाम की इज़्ज़त और रक्षा की जाती है*।" प्रकट है कि दक्षिण भारत मे तो हिन्दू मुसलमानो का सम्बंध, वाणिज्य-व्यापार और जहाज चलाने के कारण सुखदायक था। परन्तु उत्तर भारत मे युद्ध और विरोध के सम्बंध से बिलकुल उल्टी दशा थी।

---

* एलीयट, जिल्द १, पृ० ४२।

चौथा व्याख्यान

ईसा की १४ वीं शताब्दी

सामाजिक विशेषताएँ

मध्यकालीन भारत का तीसरा काल-विभाग ईसा की १४ वी शताब्दी से आरम्भ होता है। इस समय तक मुसलमानो का अधिकार भारत के पूरे विस्तार मे जम चुका था। दिल्ली के बाशाहो का राज्य दृढ़ हो चुका था और उसका प्रभाव और अधिकार दूर दूर तक फैल गया था। परन्तु इस समय चिट्ठी-पत्री और आने जाने के साधन ऐसे न थे कि कोई केंद्रीय शासन इतने अधिक दूर दूर के प्रातो पर, जो हर तरफ़ हजार हजार मील से भी अधिक फैले हुए थे, यथेष्ट रीति से अपना सिक्का बैठा सके। इसके सिवा मुसलमान जो धार्मिक भावावेश मे पड़ कर भारत मे आ गये थे वह भी अपने सामाजिक जीवन मे इतनी समानता पैदा न कर सके थे कि सब मिल कर किसी केंद्रीय शासन से अधीनता का सम्बन्ध जोड़ लेते। भिन्न भिन्न जातियो के मुसलमान जैसे तुर्क, पठान, ईरानी, अरब, मुग़ल और विविध वंशो के इसलाम-मत स्वीकार करनेवाले भारतीय अभी किसी संयुक्त शासन और समाज-नीति पर एकमत नही हुए थे जिससे वह एकता के साथ किसी विस्तृत और दृढ़ केंद्रीय शासन के रक्षक बन सकते। और फिर हिन्दुओ से भी उनके सम्बंध अभी तक कुछ आतरिक प्रेम के न थे। जहाँ तक शासन और विजय का सम्बन्ध है मुसलमानो के भारत

को विजय करने से पहले राजपूत हिन्दुओं की शेष सभी जातियों पर, बड़प्पन प्राप्त कर चुके थे। मुसलमानों के आने के बाद भी राजपूतों के चरित्र और वीरता की नीति का विकास जारी रहा और कहा जा सकता है कि इस समय हिन्दू आबादी की वीर श्रेणी यही थी। हिन्दुस्तान के हिन्दू विद्वान् और पंडित अब पीछे की श्रेणियों मे आ गये थे परन्तु शासक-बल का प्रभाव उन पर भी पड़ रहा था। मुसलमान दरवेश और सूफ़ी देश भर मे फैले हुए थे और उनका प्रभाव सम्बन्ध के कारण हिन्दुओं के विचार पर और देश के राजनैतिक और सामाजिक जीवन पर पड़ रहा था। सम्बन्ध के प्रभाव के कुछ चिह्न भक्ति के सिद्धान्तों मे देख पड़ते हैं जो आधुनिक वैष्णव-मत और शैव-मत मे प्रवेश कर गया था और फिर उन विरोधी आन्दोलनों मे भी दिखाई देते थे जो इन दोनों मतों के विरुद्ध खड़े किये गये। और जिनके कारण जाति-पाँति का विभेद और उसके असामाजिक अंग और भी दृढ़ और स्पष्ट हो गये और जातियो की संख्या मे अत्यधिक वृद्धि हुई। अब शेष रही सीधे प्रभाव पड़ने की बात। वह विविध भारतीय वंशों के समूह के मुसलमान-मत मे प्रविष्ट होने से प्रगट है और इस बात से भी कि इस काल मे विविध पंथ और मत-मतान्तर चल पड़े और सौ दो सौ बरस पीछे तक अपना प्रभाव फैलाते रहे। कबीर और गुरु नानक उन धार्मिक और सामाजिक मेल कराने वालों की लम्बी सूची मे से दो सबसे अधिक स्पष्ट उदाहरण है जिन्होने अभिनव भारत के लिये मार्ग बनाया।

प्रमाण

यह युग अभिनव संगठन का युग था जिसका उत्साह भारतीय जीवन के विविध विभागों को कर्म-शील बना रहा था। इस लिए

इस युग के सम्बंध मे प्रमाण और साक्षी बड़ी संख्या मे मौजूद है। और इस अधिकता के कारण चुनाव का काम अत्यंत कठिन हो जाता है। इस काल के आलोचनात्मक परिशीलन मे जितना विवेक और विचार लगाने और ध्यान देने की आवश्यकता है अब तक उतना नही दिया गया। यद्यपि यह बात थोड़ी बहुत समझ से बाहर और विरोधाभास सी प्रतीत होती है, परन्तु वस्तुत. परिशीलन मे इस कमी का कारण यही सामग्री का प्राचुर्य है जो सहज ही प्राप्य है। इस समय के साहित्य और साधारण कथा-कहानियो पर पर्याप्त ध्यान नही दिया गया और न इस बात की पर्याप्त छान-बीन की गई कि धार्मिक आन्दोलनो का देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा। ऐसी खोज बहुत से विषयो पर प्रकाश डालने का साधन बन सकती है जो अब तक अंधकार मे छिपे हुए है। इस व्याख्यान मे हम केवल थोड़े से प्रमाणो पर दृष्टि डाल सकते है, जिनसे मध्यकालीन भारत के अंतिम भाग का ठीक ठीक चित्र आँखो के सामने आ जाय। इस काल के भाट कवियो का अनुशीलन चंदबरदाई के पृथ्वीराजरासो मे और कहानियो के उस लम्बी शृंखला मे किया जा सकता है जो संयुक्त-प्रात मे गली गली घूमने वाले गवैये वर्षा काल मे गॉव गॉव गाते फिरा करते है और जो आल्हाखंड के नाम से प्रसिद्ध है। भाटो की कविता और चारणों की वंशावली पर टाड साहब की रचना "राजस्थान" से भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। टाड राजस्थान का एक अमूल्य संस्करण हाल ही मे मिस्टर डब्ल्यु क्रुक ने प्रकाशित किया है। मिस्टर डब्ल्यु क्रुक W Crooke के नाम से आप मे से कई सज्जन अभिज्ञ होगे। वह इन्हीं प्रांतो मे सिविल सर्विस की विगत पीढ़ी के एक प्रतिष्ठित सदस्य थे। जिस धार्मिक आन्दोलन के कारण अभिनव शैव-मत सूफ़ीयो की परम्परा के सन्निकट आ गया उसका सबसे अच्छा उदाहरण

कश्मीर की देवी लल्ला (लाल डीड) की रचना मे मौजूद है। लल्ला ईसा की १४ वी शताब्दी मे हो गई है जब कि उसकी जन्म-भूमि मे इस्लाम का आकर्षण व्यापक हो रहा था। उसकी रचना के इस विद्वत्ता-पूर्ण संस्करण (लल्ला वाक्यानि) के अतिरिक्त जो सर जार्ज ग्रियर्सन ने निकाला है, एक पद्यबद्ध अँग्रेज़ी उल्था भी मौजूद है जो सर रिचर्ड टेम्पिल ने प्रकाशित किया है। उन्होने इस पर एक अत्यंत अमूल्य प्रस्तावना भी लिखी है जिससे हिन्दुस्तान की १४ वी शताब्दी ईसवी की धार्मिक परिस्थिति एक नये प्रकाश मे दीखने लगती है। यात्रियो मे से इब्न बतूता उल्लेख्य है। पेरिस की सोसाइटी एशियाटिक ने उसकी यात्रा का एक प्रशंसनीय संस्करण फ्रासीसी उल्थे के सहित सी डिफ्रेम्मी और डाकृर बी० सी० सांग्वीनेट्टी (C Deframery and Dr B C Sanguinetti) के सम्पादकत्व मे चार जिल्दों मे प्रकाशित किया है। पूर्वीय यात्रियो मे इस सर्वश्रेष्ठ यात्री ने पश्चिमीयों मे सर्वश्रेष्ठ मारको पोलो से एक तिहाई शताब्दी बाद भारत-यात्रा की थी। जिसकी यात्रा का अनुशीलन कर्नल यूल के अनमोल संस्करण मे किया जाता है। मिस्री यात्री शहाबुद्दीन अबुलअब्बास अहमद ने भी दिल्ली का तुग़लक़ दर्बार लगभग उसी काल मे देखा था। उसकी लेखनी से नगर, नागरिक, दर्बार और उस समय के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध मे एक ऊँची श्रेणी का वर्णन मौजूद है। इसके बाद भारत के मुस्लिम इतिहासकारों जैसे फ़रिश्ता, बर्नी और अफ़ीफ़ आदि की रचनायें और सुल्तान फ़ीरोज़शाह तुग़लक की संक्षिप्त सी स्व-लिखित जीवनी "तारीख़ फिरोज़शाही" आती है। अमीर ख़ुसरो देहलवी की रचनाओं मे भी जीवन के विविध अंगों के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं जो विशेष रूप से इतिहासकारो की रचनाओ मे नहीं मिलते। अमीर ख़ुसरो की रचनाओ का अनुशीलन करना चाहो तो वह ऊँचे दर्जे

के संस्करण मौजूद है जो अलीगढ़ से आला हज़रत निजामे दकन की संरक्षता मे प्रकाशित हुए है। मै आपको दो कहानियो अर्थात् 'देवलरानी खिजरखाँ' और 'किरानुस्सादैन' पर विशेष रूप से ध्यान दिलाता हूँ। मुद्राओं और लिपियो की भी एक भारी संख्या मौजूद है। इस विषय के अनुशीलन मे हमे मुस्लिम भारत-लिपिमाला Epigiaphia Indo-Moslemiea) और मिस्टर ए० टामस की रचनाओ से बहुत सहायता मिलेगी।

राजपूतों का शिष्टाचार और शील

कन्नौज की राज-कुमारी

चंदबरदाई की कविता और आल्हाखंड यद्यपि दोनो के दोनो १२ वी शताब्दी की घटनाओ के सम्बन्ध मे है तथापि जिस दशा मे अब मिलते है उसमे बहुत सामग्री भी सन्निविष्ट है जो पीछे से तैयार हुई। आल्हाखंड जिस दशा मे मौखिक परम्परा से चला आया है, सम्भवत: सामूहिक रूप से ईसा की १३ वी और १४ वी शताब्दी के राजपूतो के रूप-रंग, चरित्र और जीवन-क्रम का दर्पण है। पृथ्वी-राज के अपने दुलहिन को प्राप्त करने की कहानी से राजपूतो के सामाजिक जीवन पर विशेषता से प्रकाश पड़ता है। इसलिए मै आपकी आज्ञा से यह कहानी संक्षेप से वर्णन करूँगा जिसमे आपके हृदय मे उस भावपूर्ण चारण-काव्य के अनुशीलन की इच्छा उत्पन्न हो। जिससे राजपूत दरबारो के रीति-रस्म का पूरा चित्र आँखो मे फिर जाता है। नई खोज से पता चलता है कि कन्नौज का राजा जयचंद राठौर था। लेकिन राठौरो और गहरवारो का चोली-दामन का साथ था और किसी वंशानुगत या इतिहासगत कारण से

चारण-काव्य मे कन्नौज के शासक को हमेशा राठौर ही कहा गया है। जयचंद की एक सुन्दर राजकुमारी संयोगिता थी जो विवाह की अवस्था को पहुँच चुकी थी। राजा ने स्वयंवर रचाने का निश्चय किया जिसमे संयोगिता स्वयं अपना वर चुन ले। स्वयंवर की रीति इस काल मे व्यापक न थी परन्तु जो राजा स्वयंवर रचाता उसके बारे मे ऐसा समझा जाता था कि अपनी बेटी के ब्याह के सम्बन्ध मे इस प्रकार की रीति पालन करके यह राजपूतों मे बड़प्पन और ऊँची श्रेणी ग्रहण करना चाहता है। स्वयंवर मे दूर और समीप के समस्त राजपूत राजाओं और राजकुमारों को निमंत्रित किया गया। दिल्ली के सुप्रसिद्ध चौहान राजा पृथ्वीराज को भी निमंत्रण दिया गया था परन्तु पृथ्वीराज का विचार था कि राजा जयचंद ने स्वयंवर का दरबार नियुक्त करने मे अनुचित साहस का काम किया है। निदान वह विवाह के इच्छुक की हैसियत से दरबार मे सम्मिलित न हुआ। प्रत्युत प्रतिज्ञा कर ली कि जयचंद की राजकुमारी को बाहुबल से अपनी रानी बनाऊँगा।

प्रेम का अनोखा मार्ग

दरबार खुल गया। राजे और राजकुमार आये और अपने अपने सिंहासन पर बैठ गये परन्तु चौहान का सिहासन ख़ाली रहा। यह देख कर जयचंद ने इस अपमान का बदला लेने की ठानी और पृथ्वीराज की मूर्ति द्वारपाल के रूप मे बनवा कर दरवाज़े पर खड़ी कर दी जिससे यह प्रकट करना इष्ट था कि पृथ्वीराज ऐसी ही छोटी सेवा के योग्य है। परन्तु उसने अपनी राजकुमारी के आंतरिक भावों का अनुमान न किया। वह जयमाला हाथ मे लिये स्वयवर मे आई जो उसे अपने चुने हुए वर के गले मे डालनी थी।

दरबार मे जितने राजा और राजकुमार जमा थे वह सबके पास से निकल गई और द्वार पर जाकर द्वारपाल की मूर्ति के गले मे जयमाला डाल दी । इस पर जितने लोग वहाँ उपस्थित थे आश्चर्य मे डूब गये और सभा मे शोक और क्रोध की एक लहर दौड गई । जयचंद का क्रोध भड़क उठा। उसने राजकुमारी को कारागार मे भिजवा दिया और राजा लोग अपने अपने घर चले गये ।

भेष बदले हुए प्रभु का दूत

इसी बीच पृथ्वीराज के दरबार से एक स्त्री रवाना की गई कि कन्नौज की राजकुमारी को निकाल लाने के लिए मार्ग तैयार करे । वह मर्दाना लिवास पहन कर कन्नौज आई । परन्तु 'नाक मे सोने का फूल पड़ा रह गया जो केवल स्त्रियाँ ही पहनती है ।' और उसके भेष का रहस्य खुल गया । परन्तु इस रहस्योद्घाटन से भी वह घबराई नही । कहने लगी मै दिल्ली के महाराज की दासी हूँ और उनके यहाँ से भाग आई हूँ । अब आपसे सहायता की प्रार्थना करती हूँ और मुझे पूरी आशा है कि कन्नौज के महाराज एक विपद की मारी मानिनी दासी को निराश न करेगे । जयचंद ने सोचा कि दासी के हृदय मे इस समय पृथ्वीराज के विरुद्ध प्रतिहिंसा का भाव बहुत प्रबल होगा । इसलिए उसने उसे कारागार मे राजकुमारी की रक्षा और 'उसके हृदय से पृथ्वीराज के प्रेम का रोग मिटाने के लिए' नियुक्त कर दिया ।

पृथ्वीराज का स्वयं अवसर पर पहुँचना

दिल्ली मे पृथ्वीराज ने अपने कवि चंदबरदाई से सलाह की तो उसने कहा कि तुरन्त कन्नौज की ओर चल देना चाहिए ।

चंदबरदाई को तो सभी राजपूत दरबारों मे पहचानते थे परन्तु पृथ्वी-राज ने उसके सेवक का भेष बना लिया और विश्वसनीय मनुष्यों को साथ लेकर कन्नौज को चल पड़ा। कन्नौज के दरबार मे पहुँच कर पृथ्वीराज भूल से अपने कंगन-वाले हाथ से मूँछों को ताव देने को था, [यह योद्धा राजपूतों की विशेष क्रिया थी जिससे वह किसी को सामना करने के लिये ललकारा करते थे ।] परंतु कवि चंदबरदाई ने ठीक समय पर संकेत से मना कर दिया और इस तरह उसके भेष का रहस्य खुलते खुलते बाल-बाल बच गया।

कन्नौज के महाराज ने चंदबरदाई की उचित आवभगत की जिसका वह दूत के नाते अधिकारी था। और फिर उससे पूछा कि दिल्ली का राजा किस तरह का मनुष्य है। कवि ने इन अभिप्राय-युक्त शब्दों मे उत्तर दिया जो वस्तुत· ठीक भी था। 'जिस डील-डौल का यह मेरा सेवक है उसी डील-डौल का दिल्ली का राजा भी है। वह एक वीर चौहान है। भाग्य के फेर-फार की उसे तनिक भी पर्वाह नहीं है और मृत्यु को सामने देखकर हँस देता है'। चयचंद ने उचित प्रतिष्ठा के साथ उन्हे उनके डेरे पर पहुँचा दिया जो एक बाग़ मे था।

पत्र-व्यवहार और संदेश

बाग़ मे मछलियों का एक तालाब था। कवि ने लिखा है कि दिल्ली का महाराज इतना उदार था कि उसने मछलियों के पेट भरने के लिए अपने हार के मोती उनके सामने फेक दिये। संजोगिता ने यह घटना खिड़की मे से देख ली और उस मानी हुई भागी दासी के हाथ मोतियों से एक सोने का थाल परिपूर्ण करके भेजा। इस प्रकार अर्थ और अर्थी मे संदेश और अभिवादन का प्रसंग और प्रेम का संबंध स्थापित हो गया।

बदला लेने के लिये राजपूत की चुनौती

दूसरे दिन प्रात:काल जयचंद ने ,चंदबरदाई को बहुत-सी भेंट देकर विदा किया जो एक बहुत भारी महाराजा के सम्मान के अनुकूल थी। अर्थात् मूँगे, मोतियो और जवाहरों की लड़ियाँ, 'शाल, दुशाले, रूमाल और जड़ाऊ सरोपा, पगड़ी, कलँगी और ऍगूठी, तीस हाथी और दो सौ घोड़े'। पृथ्वीराज ने सेवक के नाते पान का बीड़ा बनाया। कहने को तो यह महाराजा कन्नौज की कृपाओं पर धन्यवाद की भाँति उपस्थित किया गया था परन्तु इसमे एक गहरा रहस्य भी छिपा था। उसने बीड़े मे पान के पाँच पत्ते रखे थे और इस प्रकार मानो एक राजपूत की ओर से दूसरे राजपूत को सामना करने की चुनौती दी गई। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज ने अपने उद्देश्य को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिये जयचद का हाथ इस ज़ोर से दबाया कि उसके नखों से रक्त बह निकला अब रहस्य तो खुल ही गया था युद्ध का विज्ञापन हो गया। राठौर वीरों को एकत्र करने के लिये नगारे पर चोट पड़ी। राजा का हुकुम हो गया कि दिल्लीवालों मे से एक भी जीता बच कर न जाने पावे। सबको मार कर गिरा दो।

प्रेमी और प्रेयसी की भेंट

संयोगिता ने अपने रत्न और आभूषण इकट्ठे किये और राजोपम वस्त्र पहन लिये फिर किसी न किसी प्रकार पृथ्वीराज के पास जा पहुँची। हाथ मे सोने की धूपदानी लेकर पृथ्वीराज के सिर पर वारा कि बुरी नज़र से सुरक्षित रहैं फिर उसके चेहरे पर पुष्प-निर्मित पंखी से हवा करके अपनी सुयोचित भक्ति और पातिव्रत धर्म प्रकट

किया और पान का एक सुंदर बीड़ा देकर प्रेम की प्रतिज्ञा की। परन्तु साथ ही उसे सतर्क भी कर दिया कि जयचंद के पास एक भारी सेना है और तेरे साथ इस समय गिनती के वीर हैं।' पृथ्वी-राज ने उत्तर दिये "प्रिये कोई भय नहीं यद्यपि मेरे साथ बहुत थोड़े वीर है तथापि मेरी यह तीक्ष्ण धार वाली तलवार इस भारी सेना में से मार्ग निकाल कर तुझे दिल्ली के राजप्रासाद मे पहुँचा देगी।" अब राजकुमारी पालकी मे सवार होकर उसके साथ भाग जाने के लिये तय्यार हो गई। पृथ्वीराज ने कन्नौज से उत्तर की ओर छः मील की दूरी पर जाकर डेरे डाल दिये और हवा की तरह जाने वाले हरकारे को दिल्ली भेजा कि मेरी सेना के महावीरों को लाओ कि वह कन्नौज के राठौरों से लड़ते-भिड़ते राजकुमारी को दिल्ली ले चले। इस पर ११६ शूर-वीर अपने महाराजा पर जान वार देने के लिये आ उपस्थित हुए। उनके पहुँचते ही पृथ्वीराज ने अपने वीरों मे से एक को भेजा कि राठौरा को युद्ध के लिये उत्तेजित करे और इस प्रकार राजकुमारी की पालकी के लिये युद्ध किया जाय।

बधू के लिये युद्ध

दोनों ओर के वीर बड़े उत्साह से युद्ध मे सम्मिलित हुए। नृसिंहे फूँके गये। तलवारे म्यान से निकल निकल कर चकाचौंध करने लगी। वह घमासान का रण पड़ा कि शत्रु-मित्र का भेद जाता रहा। दिन भर मार-काट जारी रही। "उस दिन उन्होंने उस समय तक रक्त बहाने से हाथ न खींचा जब तक सिर पर सितारे न चमकने लगे।" जयचंद ने आज्ञा दी कि राजकुमारी की पालकी मैदान मे ला रखो कि जिसे विजय मिले वह पालकी उठा ले जाय। उसका उद्देश्य यह था कि पृथ्वीराज स्वयं मैदान मे आ जाय और मैं उसे मार डालूँ।

चौहान वीरों ने ललकार कर कहा "पालकी यहाँ रख दो और ठंडे ठंडे घर की राह लो। उधर से राठौर सूरमाओं ने उत्तर दिया 'जी क्यों नही! ज़रा वह पालकी को दिल्ली ले जानेवाले राजपूत सामने तो आये।" प्रत्येक वीर ने दो दो तलवारें सँभाल लीं और दोनों ओर के वीर मृत्यु को खेल समझ कर युद्ध मे जुट गये। पालकी रक्त से उसी तरह लाल हो गई जैसे वधू के पाँव मेहदी से हो रहे थे। भालों और तीर और धनुष से भी काम लिया गया। परन्तु चौहानों का पल्ला भारी था और पालकी पाँच कोस दिल्ली की ओर और निकल गई।

वधू दिल्ली पहुँचती है

परन्तु कन्नौजवालों ने भी पिंड न छोड़ा। रात दिन बराबर लड़ते लड़ाते चलते रहे। पालकी कभी थोड़ी दूर दिल्ली की ओर आ जाती और कभी कन्नौज की ओर चली जाती थी परन्तु कुल मिला कर यह दिल्ली के पास ही होती जाती थी। सोरो के घाट पर गंगा पार जाती बेर एक और घमासान लड़ाई हुई। दोनों ओर के चुने हुए वीर हाथों मे भाले और ढालें लिये एक के सामने एक आकर वीरता दिखाने लगे। परन्तु अब भी खेत चौहानों ही के हाथ रहा और कन्नौज की सेना घटती ही गई। ख़ास दिल्ली के फाटक के सामने जो अंतिम युद्ध हुआ उसमे राठौर-सेना के बचे-खुचे सैनिक भी काम आ गये। आनंद के उत्साह मे चंदबरदाई और पृथ्वीराज ने स्वयं पालकी उठा ली और अत्यंत हर्षित हो नगर में प्रविष्ट हुए। चंदबरदाई जय-चंद को संबोधन करके बोला "यदि आपके सब सैनिक काम आ गये तो पृथ्वीराज की भी यही दशा है, इसलिए अब युद्ध व्यर्थ है। शांति से घर जाइए, यह है उस कहानी का अंत

जिससे प्रकट होता है कि राजपूत वीर किस प्रकार बधू को प्राप्त किया करते थे ।*

शेख़ बुरहान राजपूताने में

इस अभागे युग मे हिन्दू-मुसलिम झगड़े हमारे लिये इतने स्वाभाविक हो चुके है कि उन भले दिनो की स्मृति अत्यन्त सुखकर प्रतीत होती है जब कि राजपूतों की एक बहुत बड़ी श्रेणी में एक मुसलमान दरवेश की लगभग पूजा सी हो रही थी और वह राजपूताने मे दस सहस्र वर्ग मील क्षेत्र के एक विस्तृत भू-भाग का नायक बन गया था। यहाँ तक कि सारा भू-भाग उसी के नाम से विख्यात हो गया। जयपुर के मिर्ज़ा राजा (१६२५ ई० से १६६७ ई० तक) के नाम से हम पूर्णतया अभिज्ञ हैं, परन्तु इस समय मै एक राजपूत शेख़जी का वर्णन कर रहा हूँ जो मोकल जी का बेटा था। मोकल जी अलवर और बीकानेर के बीच के उस भू-भाग का राजपूत शासक था जो पीछे से शेखावाटी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह १४ वी शताब्दी के अंत मे हुआ है। उन्ही दिनों एक तपस्वी मुसलमान प्रचारक शेख़ बुरहान ने राजपूतो के हृदय और मस्तिष्क पर ऐसा सिक्का बिठाया कि वह उसे सिद्ध समझने लगे। मोकल ने शेख़ से एक बेटे के लिये विनती की और जब उसके घर लड़का पैदा हो गया तो उसका नाम 'शेख़जी' रखा गया। वहाँ शेख़ बुरहान की क़ब्र पर अब तक छोटे बड़े सब तरह के लोग जुटते हैं। और शेख़ावता राजपूतों के पीले झंडे के ऊपर फ़क़ीर का नीला फरेरा लहराता है। इसी फ़क़ीर से

---

* आल्हा-खंड, पृ० ३१ से ५६ तक

भक्ति प्रकट करने की रीति पर शेख़ावत राजपूत जंगली सुअर का शिकार भी नहीं करते*

दिल्ली का एक शिला-लेख

उन लिपियों मे से जो दिल्ली के सम्राटों के शासन-काल पर प्रकाश डालती हैं, मैं अपका ध्यान केवल एक शिला-लेख की ओर आकृष्ट करूँगा। यह पालम का शिलालेख दिल्ली के क़िले मे पुरातत्त्व के संग्रहालय मे रखा हुआ है। यह एक गॉव के कुएँ मे लगा था जो वर्त्तमान दिल्ली शाहजहानाबाद से केवल १२ मील की दूरी पर स्थित है। इसकी भाषा संस्कृत है। हॉ। अंतिम भाग मे एक स्थानीय भाषा है जो हरियाने मे बोली जाती थी। यह शिला-लेख अत्यंत गंभीर और समीक्षात्मक अनुशीलन का अधिकारी है। इस पर संवत् १३३७ वि० (तदनुसार सन् १२८०-८१ ई०) खुदा हुआ है, जब कि दिल्ली के सिंहासन पर सुल्तान ग़यास्सुद्दीन बलबन बैठा शासन कर रहा था। संस्कृत मे और स्थानीय भाषा मे भी दिल्ली को 'ढिल्ली' लिखा गया है। इससे शहर दिल्ली के आरम्भिक नाम पर कुछ प्रकाश पड़ता है। परन्तु इस शिलालेख की वास्तविक महत्ता उन विचारों मे है जो पं० योगेश्वर और उसके प्रभाव-गत लोगों ने देश के मुस्लिम शासको के सम्बंध मे प्रकट किये है। इसमे मुसलमान शासकों को शाकाकार राजा लिखा गया है और उनके शासनकाल की चर्चा शहाबुद्दीन ग़ोरी से आरम्भ करके क़ुतबुद्दीन ऐबक, शमशुद्दीन अल्तमश और रज़िया बेगम के शासनकाल को मिलाते हुए उस समय के विद्यमान शासक पर समाप्त की है। रज़िया बेगम के

*टाड, जिल्द ३, पृ० १३७८ से १३८२ तक।

नाम के बदले केवल उनकी उपाधि जलालुद्दीन लिखा है। इसलिए कि बलबन सिंहासन पर बैठने के पहिले अपने पूर्व सम्राट् का मंत्री था, दोनों के शासन-काल की, भूरि भूरि प्रशंसा की गई है। शासन की चर्चा इन शब्दों मे की गई है।

"वह बादशाह जिसके महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय शासन में सारा देश सुखी और संतुष्ट है। बंगाल के गौड़ नगर से अफ़ग़ानिस्तान के ग़ज़नी नगर तक और दक्षिण मे द्राविड़ भू-भाग और रामेश्वर तक हर जगह देश इस तरह सुशोभित हो रहा है जैसे पेड़ों के सौंदर्य्य से वसंत ऋतु मे धरती सुशोभित हो जाती है। और इस बादशाह की सेवा में जो अनेक राजा आते जाते हैं उनके मुकुटों से गिरे हुए रत्न की चमक-दमक फैल जाने से सारा देश जगमगा रहा है।"

सेनाओं की शक्ति और गति के सम्बंध में लिखा है, कि गंगा के मुहाने से सिन्ध के मुहाने तक समुद्र से समुद्र तक सारे देश पर उनका अधिकार था और उनकी बदौलत प्रत्येक मनुष्य शांति और सुरक्षा मे दिन बिता रहा था। सेना की चर्चा बड़ी विशेषता से की गई है। प्रशंसा करनेवाला कहता है कि "जब से इस महत्त्ववान् सुल्तान ने संसार का बोझ अपने कंधों पर ले लिया है दुनिया को सँभालनेवाले शेष-नाग धरती के बोझ से छुट्टी पा बैठे है और विष्णु भगवान् संसार की रक्षा की सुधि छोड़कर क्षीर-समुद्र मे सुख से सो रहे हैं।" आगे चल कर यह शिलालेख बताता है कि "इस सुल्तान के न्यायपूर्ण शासन मे जिसके अधीन सैकड़ों भारी भारी नगर हैं, ढिल्ली का मनोहर नगर सुख और समृद्धि से पूर्ण है। यह नगर धरती माता की तरह अनंत रत्नों का कोष है; स्वर्गधाम की तरह आनन्द और सौख्य का ठिकाना है, पाताल की तरह बलवान् दैत्यों का निवासस्थान है और माया की तरह मनोमोहन और सुन्दर है।"

उसकी कुछ वैयक्तिक दशा भी लिखी है। उसके तीन रानियाँ थीं। सात लड़के और चार लड़कियाँ। उसने अनेक विस्तृत धर्मशालायें बनवाई थी जो संभवतः बड़ी राजकीय सड़क पर स्थित थीं*।

इब्न बतूता का वक्तव्य

पश्चिम देशों का यात्री इब्न बतूता सन् १३३३ ई० से १३४६ ई० तक भारतवर्ष मे रहा। उसने भारतवर्ष के जो शब्दचित्र खींचे है वह बहुत विस्तृत और मनोहर हैं। मैंने एक और पुस्तक† मे उसे विस्तार से वर्णन कर दिया है, इसलिए अब यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं समझता। प्रत्युत इसके केवल थोड़े से मनोरंजक स्थलों की चर्चा करूँगा और फिर आपको उस शब्दचित्र पर ध्यान दिलाऊँगा जो हमारे लिये अमीर खुसरो ने खींचा है। इब्न बतूता के वक्तव्य से व्यक्त होता है कि भारत और कबचाक [अज़ाफ़ समुद्र के पास] के बीच घोड़ो का व्यापार ज़ोरो पर था और यह दोनो देशो मे आर्थिक सम्बंध का एक साधन था। कबचाक देश मे एक अच्छा घोड़ा लगभग चार रुपये को मिल जाता था। परन्तु भारत मे उसका मूल्य एक सौ से दो हज़ार रुपये तक पड़ जाता था‡। व्यापारियो के बड़े बड़े समूह जिनमे से हर एक छः छः हज़ार घोड़े रखते थे गोमल के दर्रे की राह से भारतवर्ष मे आते थे और सीमा के पास शहर मुल्तान उनके लिए सबसे बड़ी व्यापारी मंडी थी। डाक का बंदोबस्त अच्छा था

---

*मुस्लिम भारतलिपिमाला, जिल्द सन् १९१३-१४ ई०, पृ० ३५ से ४५ तक।

† तीन मुसाफ़िर, पृ० २२ से ६२ तक।

‡ बतूता, जिल्द, पृ० २७१ से २७४ तक।

और अत्यंत सुदूर स्थानों से राजधानी तक नित्य और शीघ्र समाचार पहुँच जाते थे*। सिन्ध के प्रदेश में सिन्धु नद पर नावों के एक ख़ासे बेड़े का स्थिर प्रबंध था†। सुल्तान मुहम्मद-शाह तुग़लक़ अपनी राजधानी दिल्ली मे बड़ी धूम-धाम से शासन कर रहा था। वह पुरस्कार और पारितोषिक देने मे बड़ी उदारता से काम लेता था‡। उसकी माता ने भी दान का बड़ा विस्तृत प्रबंध कर रखा था और दरिद्रों के लिये सदावर्त्त, क्षेत्र और दान की जायदादे नियुक्त कर दी थीं। आय की दृष्टि से सम्राट् की नीति यह थी कि भरसक वाणिज्य-कर बंद कर दिये जायँ और इस तरह व्यापार को प्रोत्साहन दिया जाय§। सिन्धु नद के मुहाने और काठियावाड़ के विस्तृत समुद्रतट के बंदरों के द्वारा और दक्षिण मे मलाबार के समुद्र-तट के बन्दरां से बहुत विस्तृत परिमाण मे सामुद्रिक व्यापार होता था। खम्भायत एक सुन्दर और समृद्ध नगर था और हब्शी लोग अपने सामुद्रिक लड़ा-इयों की दृष्टि से इस समय भी वैसे ही प्रतिष्ठित थे‖ जैसे उसके पीछे मुग़लो के शासन मे देख पड़ते थे। मलाबार के समुद्र-तट पर चीनी जहाज़ों की (जिनको जुंक कहते हैं) आवा जाई पाई जाती थी¶। बंगाल मे यद्यपि शासन की दशा संतोष-जनक न थी, तो भी इस भू-भाग मे अन्न-धन की बहुतायत थी और सब कुछ सस्ता था। देश

---

* वतूता, जिल्द ३, पृ० ६५ व ६६।

† वतूता जिल्द ३, पृ० १०६।

‡ वतूता, जिल्द ३, पृ०२४६।

§ वतूता, जिल्द ३, पृ० २८८।

‖ वतूता, जिल्द ४, पृ० ५५ से ६५ तक।

¶ वतूता, जिल्द, ४, पृ० ९१।

मे महामारी ने भी डेरे डाल रखे थे *। दुर्भिक्ष के वर्षों मे पीड़ितो की सहायता के लिये ठीक ठीक प्रबंध था। सरकारी पदाधिकारी सूचियाँ बनाते थे और नगरो मे नियमपूर्वक सहायता पहुँचाने के लिये उन्हे विविध भागों मे विभक्त कर दिया जाता था। बूढ़ा हो या बच्चा, स्वतंत्र हो या पराधीन दास, प्रत्येक सहायता योग्य मनुष्य को सरकारी अन्नाभण्डार से एक सेर अन्न नित्य दिया जाता था†।

अमीर ख़ुसरो के समय की दिल्ली

अमीर ख़ुसरो (सन् १२५३ से १३२५ ई० तक) ने दर्बार और शासक जातियों के साहित्यिक श्रेणियो के सामाजिक जीवन का जो चित्र खींचा है उसमे बहुत से मनोहर अंग हैं। परन्तु साथ ही संकोच और ह्रास के भी चिन्ह देख पड़ते है। मनोहर अंगों मे उदारता-पूर्ण अतिथि-सेवा सजावट और सौंदर्य्य, ललित-कलाओं की ओर अभिरुचि, रस, विद्वानों और कलावानों के आदर-मान की चर्चा की जा सकती है। चित्र का दूसरा दृश्य पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, अत्यंत कठोर दंड, सिंहासन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे विश्वास का अभाव, विषय-विलासिता, अत्यधिक मदपान, भोग-विलास और गर्ह्य आचार मे रँगा दिखाई देता है, पश्चिमोत्तर से मुग़लों के आक्रमण एक दूरगामी सीमा तक सामाजिक और राजनैतिक जीवन के आधारों को बलहीन करने का कारण हुए। ख़ुसरो कुछ काल तक मंगोल लोगो की कैद मे रह चुका था और उनकी चर्चा उसने कुछ निन्दात्मक शब्दो मे की है। लिखता है कि यह लोग भीतर से

---

* बतूता, जिल्द, ३, पृ० ३३४।

† बतूता, जिल्द, ३, पृ० २६०।

इस्पात की तरह शरीर रखते थे और ऊपर से रुई से उसे ढकते थे, उनकी छोटी-छोटी नीली-नीली आँखे, चिपटी नाकें, फैले हुए नथने, चौड़े चकले चेहरे, कुचिया दाढ़ियाँ और लम्बी-लम्बी मूछें उनकी कठोरता और भेड़ियों की सी निष्ठुर रक्त-पिपासा के चिन्ह थे* । ख़ुसरो जिस शहर दिल्ली का वर्णन कर रहा है वह पूर्व से पश्चिम नदी से पहाड़ियों तक और दक्षिण-उत्तर क़ुतुब के पास लालकोट से उस स्थान तक फैला हुआ था जहाँ पीछे फ़ीरोज़ाबाद शहर बसा । नगर मे वास्तुओं मे सब से बड़े तीन थे । एक तो जामा मस्जिद, दूसरे माज़ना, तीसरा विस्तृत सरकारी जलाशय जिससे नगर मे शुद्ध स्वच्छ जल पहुँचाया जाता था । जामा मस्जिद मे एक लम्बा-चौड़ा खुला प्राङ्गण था, नौ गुंबद थे और अनेक मेहराबदार खम्बे बने हुए थे । माज़ना से इनका तात्पर्य संभवत: क़ुतुब मीनार से है न कि अलाई मीनार से, क्योंकि वह कभी पूर्णता को न पहुँच सका था । अमीर ख़ुसरो कहता है कि इस माज़ने की निचली मंज़िले लाल पत्थर की थीं । सब से ऊपर की एक मंज़िल संगमरमर की थी, जिस पर गुंबद और सोने का कलश बना हुआ था । पीछे से ऊपर का भाग बिजली गिरने से नष्ट हो गया था । [यह फ़ीरोज़ तुग़लक़ के शासन-काल की घटना है । परन्तु उसने मरम्मत करवा दी थी] सरकारी जलाशय क़ुतुब मीनार से दो मील या कुछ अधिक उत्तर की ओर था । इसके चारों ओर पहाड़ी भूमि भीतों का काम देती थी । मेह का शुद्ध जल रोक रखने के लिए ढलवाँ की ओर एक बाँध बना रखा था । ठीक बीच मे एक चबूतरा था जिस पर मनबहलाव के लिये एक लम्बी-चौड़ी रावटी बनी हुई थी । दिल्लीवाले बहुधा इस रावटी में सैर करने

---

* क़ुरानुस्सादैन, प्रस्तावना पृ० ३४ से ३८ तक मूल पृ० ६१ से ६६ तक

को आया करते थे और जब उनको नगर से बाहर जाकर सैर और मन बहलाव की इच्छा होती तो पहाड़ियो पर भी डेरे डाल दिया करते थे* ।

अमीर ख़ुसरो का बाप तुर्क था और माँ रावल राजपूत। वह पटियाले मे पैदा हुआ था। बाप की रक्षा से बचपन मे ही वंचित हो गया था और माँ के प्रभाव और शिक्षा से वह भारत-माता का सुपूत कहलाने का अधिकारी बन गया। वह अपने भारतीय होने पर गर्व करता था। यद्यपि फ़ारसी भाषा मे लिखता था तथापि हिन्दी और तुर्की से पूर्णतया अभिज्ञ था। उसने अपनी रचनाओ मे बहुत से हिन्दी-शब्दो का प्रयोग किया है।

मारको पोलो दक्षिण भारत में

जान पड़ता है कि ईसा की १३ वी और १४ वी शताब्दी मे दक्षिणी भारत की जीवन-व्यवस्था उत्तर-भारत से बहुत भिन्न थी। दक्षिण-भारत के लोग कपड़ा नाम-मात्र को ही पहनते थे। परन्तु सोना, चाँदी, मोती और रत्न के आभूषणों से लदे फँदे रहते थे †। पूरब और पश्चिम दोनों ओर के विस्तृत समुद्र-तट पर विविध जातियों के जहाज़ बहुत आते-जाते रहते थे। उनमे से अधिकतर चीनियों और अरब और ईरान के मुसलमानो के होते थे। तंजोर के आस-पास के भू-भाग मे कई सम्पत्तिशाली तटवर्त्ती नगर थे। और नीगापटम के पास चीनी ढंग का बना एक मंदिर चीनियों की स्थिति और उनके प्रभाव का साक्षी है ‡। घोड़ों का व्यापार दक्षिण-भारत मे समुद्र के मार्ग से

---

* किरानुस्सादैन मूल, पृ० २८ से ३७ तक।

† मारकोपोलो, जिल्द २, पृ० २७५ ।

‡ मारको पोलो, जिल्द २, पृ० २७२।

और अधिकतर अरब और फ़ारस की खाड़ी के बंदरगाहों के साथ होता था। दक्षिण-भारत मे एक ही राज्य मे प्रत्येक वर्ष दो सहस्र घोड़े समुद्र के मार्ग से बाहर से आया करते थे *। उत्तर-भारत मे घोड़ों का बड़ा व्यापार जितनी उन्नति पर था उसका वर्णन पहले हो चुका है। कबचाकी घोड़े प्राय: भारी भरकम होते थे, विपरीत उनके जो घोड़े अरब से या खाड़ी से आते थे वह हल्के फुल्के और द्रुत-गामी होते थे। लंका के टापू मे सेना के आदमी लगभग सब के सब विदेशी मुसलमान थे। मारको पोलो ने उन्हें सारासिन (शारक़ीन-पूर्वी) लिखा है। दक्षिण-भारत मे योगी बहुत थे। यह बड़े व्रतशील थे परन्तु जो भोजन करते थे वह अच्छे प्रकार का होता था। प्राय: दूध और चावल खाते थे। प्रति मास दो बार यह लोग एक तेज़ अर्क़ पिया करते थे जिसके बारे मे प्राय: समझा था कि उससे उनकी आयु बढ़ जाती है। मारको पोलो के विचार मे यह गन्धक और पारे का बना हुआ होता था†। परन्तु संभव है कि यह वस्तुत: भंग से तैयार किया जाता हो। यह लोग बिलकुल नंगे धड़ंगे फिरा करते थे और शरीर पर गाय के गोबर की राख मल लेते थे। उनका कहना था कि हम बहुत लम्बी-लम्बी आयु पाते हैं और इब्न बतूता के वर्णन से जान पड़ता है कि सर्व-साधारण का विश्वास था कि यह योगी सिद्ध हैं‡। खाना खाने मे यह लोग थाली और कटोरे के बदले पत्ते बर्तते थे। मारको पोलो कहता है कि यह लोग बड़े निष्ठुर पाखण्डी और कृतघ्न थे और इनके मुकाबिले मे पश्चिमी तट के व्यापारियों के संबध मे लिखता है कि वह बात के धनी थे§।

---

* मारको पोलो, जिल्द २, पृ० २८४।

† मारको पोलो, जिल्द २ पृ० ३००।

‡ बतूता, जिल्द ४, पृ० ३३ आदि।

§ मारको पोलो, जिल्द २, पृ० २६१ और ३०२।

सामाजिक विषमताओं को घटाने के प्रयत्न

इस काल-विभाग मे तीन बड़े ज़बरदस्त और शक्तिशाली सम्राट् हुए हैं। ( ) अलाउद्दीन खिल्जी (१२५९ से १३१६ ई० तक), (२) मुहम्मद शाह तुग़लक़ (१३२५ ई० से १३५१ ई० तक), (३) फ़ीरोज़-शाह तुग़लक़ (१३५१ से १३८८ ई० तक) इनके शासन-काल मे बहुत सी आर्थिक परीक्षाये की गई। अलाउद्दीन ने थोड़ी बहुत समानता और मेल पैदा करने का प्रयत्न किया। उसने गर्व, अभिमान और पूँजीवाद का अंत करने के लिये जागीरें जब्त कर ली और अमीर-ग़रीब सबको समान बना दिया। खाने की वस्तुओं को सस्ता करने के लिए दर नियत कर दिये और ढलाई को भी नियमित और सुप्रबंधित कर दिया। प्रत्युत उसे शासन के अधीन करने का प्रयत्न किया। इन आज्ञाओ के विरुद्ध आचरण करने के लिये उसने कड़े से कड़े दंड नियुक्त किये। यद्यपि जियादुद्दीन बर्नी ने इन आज्ञाओं की अत्यंत प्रशंसा की है तथापि यह बात संदिग्ध है कि जिस दुर्भाग्य और विपत्ति का यह नाश किया चाहता था वह वस्तुत. दूर हो गई या उसमे और भी वृद्धि हो गई। और इसमे तो तनिक भी संदेह नही है कि इन सब आज्ञाओं और क़ानूनों का उसकी मृत्यु के साथ ही अंत हो गया। उसने वस्तुतः दरिद्रता का नाश करने के बदले धन, सम्पत्ति, गुण और कला और उपज के साधनों को संकुचित कर दिया। सुरापान को एक-दम बंद करने के बारे मे उसकी आज्ञाये किसी समय भी इष्ट प्रभावोत्पादक सिद्ध न हुई*।

एलियट, जिल्द ३, पृ० १९२ से १९७ तक।

मुद्रा सम्बंधी सुधार

पहले वर्णन हो चुका है कि मुहम्मद शाह तुग़लक़ ने चुंगी और सीमा आदि के विविध कर उठाकर व्यापार को प्रोत्साहित करने का यत्न किया था। टकसाल और सिक्कों के विषय में इसके प्रयत्न सराहनीय है। इसके सिक्के रूप और बनावट और कला की दृष्टि से इस बात के साक्षी हैं कि इन पर विशेष ध्यान दिया गया था। इसके एक सौ निन्यानवे ग्रेन तोल के गोल सोने के दीनार के किनारों पर स्पष्ट लकीरे बनाई जाती थी कि धूर्त्त लोग उसे रेती से रगड़ कर सोना न निकाल ले। चाँदी के टंके मे 'जो ६४ जेटल का होता था' १७५ ग्रेन शुद्ध चाँदी के डालने के आदर्श पर व्यवहार होने लगा। इस दृष्टि से टंका और आजकल के रुपये मे जिसका कुल वज़न मिलावट के साथ साथ १८० ग्रेन है कुछ भेद न था। इसी आदर्श पर टंके की विविध अंशों की क़ीमत के सिक्के भी बनाये गये। उसने सुन रखा था कि उस काल मे चीन और ईरान मे मूल्य वाले सिक्कों के सिवाय चिन्हवाले चलन सार सिक्के भी बनाये जा रहे हैं, इस पर इसने विविध मात्राओं की कच्ची धातुओं के मेल से यही काम लेने का उद्योग किया। परन्तु जब उसे मालूम हुआ कि इस तरह बाज़ार मे सिक्कों का आदर और मूल्य घट रहा है तो इस विचार का परित्याग कर दिया। उस काल मे सोने और चाँदी के सिक्कों मे परस्पर प्राय: ८ और १ या ७ और १ का संबंध था। उसके मुकाबले मे आजकल इन धातुओं मे २२ या २३ और १ की निष्पत्ति है। उन दिनों दक्षिण से प्रचुर धन प्राप्त होने के कारण राजकीय कोष मे सोने की रेल-पेल थी*।

---

* टामस, पृ० २१७ से २६१ तक।

बेकारी के प्रश्न पर शासन का उद्योग

फ़ीरोज़ शाह तुग़लक़ ने अपनी प्रजा की बेकारी की समस्या को हल करने के लिए एक योजना की थी। दुर्भाग्य से हमे उसका बहुत कम विवरण मिला है। नगर के सब बेकार आदमियों को बादशाह की सेना मे उपस्थित किये जाने की आज्ञा थी और उन्हे योग्यतानुसार काम दिया जाता था। लिखने वालों को सरकारी दफ़्तरों मे लिखने-पढ़ने का काम मिल जाता था और जिन लोगों मे वाणिज्य-विषयक कुछ समझ-बूझ दिखाई देती थी उन्हे ख़ान्-जहाँ के सुपुर्द किया जाता था। ख़ान्-जहाँ के अधीन संभवतः रसद और हाथ के काम के विभाग थे। इनका संबंध विविध विभागो से था, जैसे बावर्ची ख़ाने, पशुशाला, बत्ती बनाने, पानी गरम करने आदि के विभाग। इन विभागों के वार्षिक व्यय तीन लाख बीस हज़ार रुपये की रकम के होते थे। उस समय एक रुपये मे आजकल की अपेक्षा अधिक वस्तुये मिल जाती थीं। इसके सिवाय तोशा ख़ाना और फ़र्राशी के विभाग भी स्थापित थे। यदि कोई मनुष्य किसी विशेष अमीर की सेवा मे रहने का इच्छुक होता तो उसे वहाँ नौकरी दिला दी जाती थी*।

सहायता के काम और सार्वजनिक वास्तु-निर्माण

इनके सिवा एक 'दीवाने खैरात' अर्थात् दान-कार्यालय भी था। चिकित्सालय या अस्पताल मे न केवल रोगी और विपद्ग्रस्त लोगों की चिकित्सा की जाती थी, प्रत्युत उनके खाने-पीने के व्यय का दायी

* एलियट, जिल्द ३, पृ० ३५५ से ३५७ तक।

भी राज्यकोष होता था*। यह सब कुछ था परन्तु फ़ीरोज़शाह की सदा के लिए प्रसिद्धि का सबसे बड़ा कारण उसका सार्वजनिक वास्तु-निर्माण है। उसने न केवल स्वयं बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाईं प्रत्युत इस सिलसिले मे एक ऐसा काम भी किया जिसके उदाहरण भारतवर्ष मे कम मिलते हैं। अर्थात् वह अपने पूर्वकाल के वस्तुओ के सुधार और जीर्णोद्धार को अपना महत्त्वशाली और धार्मिक कर्तव्य समझता था। इसने बहुत से नगर, गढ़, महल, सिँचाई के बाँध, मस्जिद, मक़बरे, मदर्से और सरायें बनवाईं। बाग़ लगवाये, नहरे खुदवाईं, और कई पुल भी बनवाये †। उसने नहरों का दोहरा सिल-सिला क़ायम किया और इस प्रकार अपने नये शहर हिस्सार फ़ीरोज़ा के लिये (जो अब हिस्सार कहलाता है और इसी नाम के ज़िले का मुख्य स्थान है) सतलज और जमुना से पानी ले आया। नहरों के कारण खेती मे बड़ी उन्नति हुई और लोगों को फल उपजाने मे प्रोत्साहन मिला। इन नहरों का खोज अब भी मिल सकता है, और अँग्रेज़ी शासन के समय की नहरे खोदते समय इनसे थोड़ा-बहुत लाभ भी उठाया गया है। उस समय के मुसलमान विद्वानों और शास्त्रियों से बहुत-कुछ विचार और तत्त्वान्वेषण के बाद फ़ीरोज़शाह ने सिँचाई पर पानी का कर लगाने की रीति का भी आरंभ किया ‡।

उपसंहार

अब हम भारत के मध्ययुग की सामाजिक और आर्थिक जीवन के कुछ अंगों पर विचार कर चुके हैं। यद्यपि विस्तार के भय ने

---

* एलियट, जिल्द ३, पृ० ३६१।

† एलियट, जिल्द ३, पृ० २९८ से ३०१ तक।

‡ एलियट, जिल्द ३, पृ० २९८ से ३०१ तक।

और समय की संकीर्णता ने केवल चुने हुए स्थलों पर सरसरी निगाह डालने की मुहलत दी है, परन्तु आशा है कि किसी हद तक इस विषय के सम्बन्ध मे मनोरंजकता उत्पन्न करने और आपको इस बात का विश्वास दिलाने मे सफलता हो गई होगी, कि हमारे मध्ययुग की सामाजिक जीवन के संबंध मे प्रायः जितनी कल्पना की जाती है, उससे अत्यधिक सामग्री मौजूद है। हमें इसका परिशीलन जातिगत, वंशगत या धार्मिक पक्षपात की शृङ्खलाओं से मुक्त होकर अत्यंत विनयशीलता और उदारता से करना चाहिए। इस तरह अनुशीलन करने, और फिर इससे जो निष्कर्ष निकले चाहे वह कैसे ही तुच्छ क्यों न हों उन्हे हिन्दुस्तानी पढ़ने वाले लोगो की सेवा में उपस्थित करने से हम राष्ट्र के निर्माण के काम को बहुत कुछ सहायता पहुँचा सकते हैं, जिसमे भविष्य के निर्माण के लिये भूत काल से सुदृढ़ आधारों को काम लेने की अत्यंत आवश्यकता होती है।

समाप्त

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका